

---

# गुमनाम स्वतंत्रता सेनानी

रत्नलाल बंसल  
विश्वभरनाथ पांडे

---

पुस्तिका सीरीज़-92

प्रकाशक :

***isd*** इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए,

लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com

वेबसाइट : www.isd.net.in

प्रकाशन वर्ष : 2021

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में देश के हर वर्ग के लोगों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया है बल्कि आपसी भाईचारा और एकता के जो उदाहरण हमें इस संघर्ष के दिनों में नजर आते हैं उन पर पूरी मानवता गर्व कर सकती है। अंग्रेजों के षड़यंत्र और मुस्लिम लीग की सांप्रदायिक राजनीति के परिणाम स्वरूप देश के विभाजन के बाद उत्पन्न हुई परिस्थितियों में हमने अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई का इतिहास लिखते वक्त ऐसे बहुत से मुस्लिम सेनानियों को भुला दिया जिनके बारे में नई पीढ़ी को बताना आवश्यक था। क्योंकि ये सब के सब बर्तानवी साम्राज्य के खिलाफ आवाज़ उठाने, उसकी शक्ति से लोहा लेने और उसे जड़ से उखाड़कर मुल्क को आज़ाद कराने के संघर्ष में हर प्रकार की कुर्बानी देने के साथ-साथ हिंदु-मुस्लिम एकता के भी बहुत बड़े सूत्रधार थे।

इन महान स्वतंत्रता सेनानियों की जीवनी और कार्यों पर आधारित ये कुछ लेख हमने हिंदुस्तानी कल्चर सोसाइटी, इलाहाबाद से प्रकाशित 'मुस्लिम देशभक्त' पुस्तक से लिए हैं जिसके लेखक विश्वभरनाथ पांडे और रत्नलाल बंसल हैं। यदि अवसर मिला तो हम अपने अगले किसी संस्करण में कुछ और स्वतंत्रता सेनानियों का परिचय अपने पाठकों से कराएंगे।



## मौलाना फ़ज़लेहक़ ख़ैराबादी

मौलाना फ़ज़लेहक़ ख़ैराबादी अपने ज़माने के एक बड़े रईस थे और इतने बड़े विद्वान थे कि इस्लामी फ़लसफ़े के उस ज़माने में दो-चार आदमी ही उनका मुक़ाबला कर सकते थे। अरबी के शायर थे और इस मैदान में अरब तक में उनका लोहा माना जाता था। लेकिन उनकी मौत काले पानी की एक अंधेरी कोठरी में हुई, क्योंकि उनको अपने देश से मुहब्बत थी और अपने देश पर वह किसी दूसरे की हुकूमत बरदाश्त करने को तैयार नहीं थे।

बहुत से कारणों से आज तक इनका नाम और ज़िन्दगी का हाल रोशनी में नहीं आ सका। लेकिन अब वह ज़माना आ गया है, जब हमें अपने इस देशभक्त को गुमनामी से निकाल कर उसे वह इज़्ज़त देनी चाहिये जिसका वह सच्चा हक़दार है।

**खानदान का हाल**—मौलाना फ़ज़लेहक़ के बुजुर्ग बहुत पुराने ज़माने में ईरान के किसी सूबे पर हुकूमत करते थे। किसी इन्क़लाबी तूफ़ान में उनकी वह हुकूमत और शान-शौकत बह गई और अपनी जान बचाने के लिये उनको हिन्दुस्तान चला आना पड़ा। अपनी आदत के मुताबिक़ हिन्दुस्तान ने उनको कलेजे से लगाया और फिर उनके नाती-पोते कभी कहीं और कभी कहीं बसते उठते आख़िर ख़ैराबाद, ज़िला सीतापुर में आकर मुस्तक़िल<sup>1</sup> तौर पर रहने लगे। अपनी क़ाबलियत के बल पर यहाँ उन्होंने एक अच्छी जागीर हासिल की और फिर आस-पास के इलाक़े में एक बड़े रईस समझे जाने लगे। लेकिन रईस होने पर भी जहालत<sup>2</sup> से हमेशा दुश्मनी रखी और ऊँचे दरजे की पढ़ाई-लिखाई और

---

1.—स्थायी, 2.—अज्ञान, अशिक्षा

बलन्द कैरेक्टर की पूंजी को ही हमेशा अपनी सच्ची जायदाद समझा। नतीजा यह हुआ कि बादशाह की नज़र में भी यह खानदान आया और मौलाना फ़ज़लेहक़ के दादा शाही नौकरी के सिलसिले में ख़ैराबाद से दिल्ली पहुँच गये। उनके बाद मौलाना फ़ज़लेहक़ के पिता मौलाना फ़ज़ले इमाम तो विद्वानों की महफ़िल के चराग़ समझे जाते थे। वह दिल्ली में ईस्ट इंडिया कम्पनी की तरफ़ से सदरुस्सुदूर यानी सबसे बड़े जज थे। साथ-साथ शौक़ और फ़र्ज़ के तौर पर पढ़ाते भी थे। उनकी लिखी अरबी की कई किताबें अरबी लिट्रेचर में आज भी बहुत इज़्ज़त की नज़र से देखी जाती हैं।

**मौलाना का जन्म**—मौलाना फ़ज़लेहक़ का जन्म सन् 1767 में ख़ैराबाद में हुआ और उनकी परवरिश दिल्ली में हुई। उनके ख़ानदानी रिवाज के मुताबिक़ चार साल की उम्र में उनकी तालीम शुरू हुई। मौलाना के पिता को पढ़ाने का शौक़ तो था ही। वह शाही दरबार में पालकी में जाया करते थे। अक्सर फ़ज़लेहक़ साहब उनके साथ होते थे और दरबार जाने आने में जो समय लगता था, उसका उपयोग फ़ज़लेहक़ साहब की पढ़ाई में होता था। कुछ बड़े हुए तो हिंदुस्तान के मशहूर इन्क़लाबी और अपने जमाने के सबसे बड़े आलिम शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब के पास पढ़ने के लिए जाने लगे। इनके सहपाठी थे मुफ़्ती सदरुद्दीन 'आज़ुर्दा' जो एक दूसरे रईस के बेटे थे। इन दोनों के मिजाज़ में शोखी और गर्मी तो थी, जैसी कि अक्सर रईसों के बेटों में पाई जाती है, लेकिन शाह अब्दुल अज़ीज़ के मदरसे में पहुँचे तो वहाँ एक दूसरा ही रंग देखा। शाह अब्दुल अज़ीज़ फ़क़ीर किस्म के आदमी थे। उनका हाल यह था कि जिस दिन फ़ज़लेहक़ साहब और सदरुद्दीन साहब खुद किताबें लेकर आते उस दिन सबक़ पढ़ा देते थे और जिस दिन नौकर किताबें लेकर आता था, उस दिन पढ़ाने से इन्कार कर देते थे। फिर भी तेज़ ज़हन होने से इन दोनों को वह बहत प्यार करते थे। मौलाना की याददाश्त बहुत अच्छी थी और फ़लसफ़े (दर्शन) की बारीकियों में दिमाग़ ख़ूब चलता था। नतीजा यह हुआ कि सन् 1806 में सिर्फ़ 13 साल की उम्र में उन्होंने अपनी पढ़ाई पूरी कर ली और अपने पिता के शागिर्दों को पढ़ाने लगे।

इसी जमाने की घटना है, एक बड़ी उम्र के साहब मौलाना के पिता के पास पढ़ने आया करते थे, लेकिन जब फ़ज़लेहक़ साहब अपनी पढ़ाई खत्म करके खुद पढ़ाने लगे तो मौलाना के पिता ने अपने इस शागिर्द को भी मौलाना के पास ही भेज दिया। मौलाना ने पहले ही दिन जब उनको बेहद सुस्त और कुन्द ज़हन देखा, तो झुंझला

उठे। किताब फेंक दी और कह दिया कि यह आपके बस का रोग नहीं है, मेहरबानी करके कल से तकलीफ़ न कीजिएगा। इस पर वह साहब बहुत रंजीदा<sup>1</sup> हुए और उन्होंने तमाम क्रिस्सा मौलाना के पिता को सुनाया। फ़ौरन मौलाना की तलबी हुई और जैसे ही मौलाना अपने पिता के सामने पहुँचे, उन्होंने एक थप्पड़ रसीद करते हुए कहा—‘बेवकूफ़! तू यह नहीं सोचता कि तेरा जैसा दिमाग़ सब कहाँ से पा सकते हैं? तू मालदार का लड़का ठहरा! किसी चीज़ की कभी कमी महसूस नहीं की। जिसके पास बैठा, उसी ने ख़ातिरदारी से पढ़ाया। हमेशा अच्छा ख़ाने को अच्छा पहनने को मिला। लेकिन इन बेचारों को यह सब कहाँ से मिले? मौलाना ने अपनी ग़लती महसूस की और फिर आइन्दा कभी किसी शागिर्द पर नाराज़ नहीं हुए।

सरकारी नौकरी में जब कुछ और बड़े हुये, तो अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट की अदालत में सरिश्तेदार<sup>2</sup> हो गये। बादशाह अकबर शाह और रेज़ीडेण्ट दोनों ही मौलाना को बहुत मुहब्बत की नज़र से देखते थे।

सरकारी नौकर होते हुए भी मौलाना ने पढ़ाने का सिलसिला क़ायम रखा और इसमें बड़ी दिलचस्पी रखते थे। इसी ज़माने में शायरी का शौक हुआ, लेकिन उर्दू फ़ारसी को छोड़कर अरबी में शायरी करते थे। मशहूर शायर ‘मोमिन’ आपके शतरंज के दोस्त थे और ग़ालिब के साथ तो दिन रात का उठना बैठना था। मुफ़्ती सदरुद्दीन साहब से ज़िन्दगी भर निभी। इस तरह नौकरी और पढ़ाने से जो वक़्त बचता या तो शतरंज में जाता था या शेरों शायरी और लिट्रेचर की चर्चा में। शेर कहने की ऐसी मशक़ हो गई थी कि चार हज़ार से ऊपर शेर उन्होंने कहे होंगे। मौलाना की शायरी का एक बड़ा हिस्सा अब लिटन लाइब्रेरी अलीगढ़ यूनीवर्सिटी में आ गया है और कुछ अब भी इधर-उधर फैला हुआ है। इनका कुछ कलाम अरब तक भी पहुँचा और उसको वहाँ बड़ी दाद मिली। अरबी ज़बान और अरबी शायरी पर मौलाना का इतना क़ाबू था कि एक बार अपने उस्ताद शाह अब्दुल अज़ीज़ से भी उलझ गये। मौलाना ने एक क़सीदा शाह साहब को सुनाया। शाह साहब को वह पसन्द आया, लेकिन उसके एक शेर पर उनको एतराज़ था। इस पर मौलाना ने क़रीब बीस शेर मुख़्तलिफ़ मशहूर शायरों के अपनी दलील की हिमायत में पढ़ दिये। शाह साहब ने अपनी ग़लती, मंज़ूर की और मौलाना को आशीर्वाद देकर विदा किया।

1.—दुखी, 2—एक पद

कुछ दिन बाद दिल्ली में एक नया रेजीडेण्ट आया, तो उसने अपने महकमे का नाज़िम<sup>1</sup> मौलाना को मुकर्रर<sup>2</sup> किया। सन् 1828 में जब वह विलायत के लिये चला तो मौलाना मुफ्ती बनाए गये। लेकिन इसके बाद मौलाना की अफसरों से नहीं पट सकी। उस ज़माने के अंग्रेज़ जैसी खुशामद चाहते थे मौलाना वैसी खुशामद नहीं कर सकते थे। इसी ज़माने में शायद मौलाना को पहली बार गुलामी की बुराई महसूस हुई और अंग्रेज़ों की नौकरी उनको ज़िह्न<sup>3</sup> मालूम होने लगी।

**दिल्ली से बाहर**—इसी नाराज़गी की वजह से मौलाना को सरकारी वकील बनाकर इलाहाबाद भेजा गया। उस ज़माने में बहादुर शाह 'ज़फ़र' वली अहद यानी युवराज थे। मौलाना जब दिल्ली से जाने लगे, तो उन्होंने अपना कीमती शाल मौलाना को ओढ़ा दिया और आँखों में आंसू भर कर विदा किया। मौलाना कुछ दिनों सरकारी वकील की हैसियत से काम करते रहे, लेकिन अंग्रेज़ों की तरफ़ से अब वह बददिल हो चुके थे। नतीजा यह हुआ कि कुछ ही दिनों बाद उन्होंने इस्तीफा दे दिया।

**रियासतों में**—मौलाना के इस्तीफे की खबर जैसे ही फैली, झञ्झर के रईस नवाब फ़ैज़ मुहम्मद साहब ने पाँच सौ रुपया माहवार पर फ़ौरन मौलाना को अपने यहाँ बुला लिया। मौलाना कुछ दिनों वहीं रहे। इसके बाद अलवर चले गये। वहाँ भी जी न लगा तो सहारनपुर पहुँचे और फिर टोंक के नवाब वज़ीरुद्दौला के यहाँ भी कुछ दिन तक रहे। कुछ लोगों का ख़याल है कि मौलाना इतनी रियासतों में इसलिये घूमे कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ इनको लड़ने के लिए अमादा कर सकें। लेकिन इन रईसों और नवाबों का खून सर्द हो चुका था, जिससे मौलाना को बड़ी निराशा हुई और फिर लखनऊ में आकर बड़े जज के ओहदे पर काम करने लगे।

लखनऊ में इस वक्त नवाब वाजिद अली शाह की हुकूमत थी, लेकिन धीरे-धीरे अंग्रेज़ों के पंजों में यह रियासत भी कसती चली जा रही थी। नवाब साहब को अपनी रंग रेलियों से ही फुरसत नहीं थी, फिर राजकाजी कामों में कौन दिमाग खर्च करे। नतीजा यह हुआ कि मौलाना का दिल यहाँ से भी ऊब गया और अच्छी भली नौकरी छोड़ कर रामपुर की राह ली। वहाँ कुछ दिनों तक नवाब यूसफ़ अली को पढ़ाते रहे। इसी ज़माने में यानी 1855 के आस-पास नवाब

1.— एक पद, 2.— नियुक्त, 3.— बेइज्जती



यूसुफ़ अली रामपुर की गद्दी पर बैठे तो मौलाना ने कोशिश करके अपने दोस्त ग़ालिब की राहरस्म रामपुर रियासत से कायम की और नबाब साहब ग़ालिब के पास अपनी ग़ज़लें 'इस्लाह' के लिये भेजने लगे। इसके बाद जब दिल्ली में कुछ सरगर्मी दिखाई दी और बादशाह की तरफ़ से राजाओं नवाबों से खत आने शुरू हुये तो मौलाना अलवर पहुँचे और उन्होंने राजा को बादशाह का साथ देने के लिए समझाया! लेकिन राजा किसी तरह राजी नहीं हुआ।

**आज़ादी की लड़ाई के मैदान में**—मौलाना अब खामोश नहीं बैठ सकते थे। वह फ़ौरन दिल्ली की तरफ़ चल दिये और रास्ते में बड़े-बड़े ज़मींदारों से मिलते गये और उनको यह समझाते गये कि इस वक्त आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेने में ही उनकी भलाई है। मौलाना फ़ज़लेहक़ मौलाना अहमदअली शाह दिलावर जंग मद्रासी से भी मिले, यह अहमदुल्ला फ़ैज़ाबादी के नाम से भी मशहूर हैं और अवध की बगावत में यह जिस बहादुरी से दस महीने तक अंग्रेज़ों से लड़ते रहे, उसने इतिहास में इनका नाम अमर कर दिया है।

**दिल्ली में**—कुछ दिन बाद मौलाना को मालूम हुआ कि दिल्ली अब आज़ाद हकूमत के हाथ में है तो वह फ़ौरन दिल्ली पहुँचे और बादशाह से मिले। शाही दरबार के मुन्शी जीवन लाल के रोज़नामचे में कई जगह मौलाना का ज़िक्र मिलता है और उससे यह भी मालूम होता है कि मौलाना बराबर बादशाह के मशविरों में शरीक हुआ करते थे।

रुहेलों की फ़ौज़, जिसका जनरल बख्त खाँ था, सच्चे दिल से और सच्चे जज्बे से लड़ाई में शरीक थी। इसी तरह का भरोसे लायक़ एक दूसरा संगठन मुजाहिदों का था, जिसकी बागडोर वलीउल्लाही मौलवियों के हाथों में थी। यह लोग अक्सर मौलाना से मिलते रहते थे। खास तौर पर जनरल बख्त खाँ मौलाना से मशविरा करके ही कोई काम करते थे, लेकिन शाहज़ादा मिर्जा मुग़ल के सामने बेचारे बख्त खाँ की कुछ चलती नहीं थी। कुछ दिन बाद हालत यहाँ तक बिगड़ी कि मिर्जा इलाही बख़्श ने बादशाह से कम्पनी के पास माफ़ी का खत तक भिजवा दिया, लेकिन अंग्रेज़ों ने उस पर भरोसा नहीं किया।

आख़िर बख्त खाँ के कहने पर मौलाना खुद आगे बढ़े। जुमे की नमाज़ के बाद

उन्होंने एक लम्बी तक्ररीर जामा मस्जिद में की और एक फ़तवा पेश किया, जिसके मुताबिक़ इस लड़ाई में शरीक होना हर एक मज़हबी आदमी का फ़र्ज़ था।

इस फ़तवे का जादू जैसा असर हुआ और करीब नब्बे हजार सिपाही बादशाह के झंडे के नीचे आ गए। लेकिन शाही खानदान के होने के जोम<sup>1</sup> में जो लोग थे, उन्होंने इसका कोई फायदा नहीं उठाया। हालत यह थी कि मिर्ज़ा इलाही बख़्श जैसे दगाबाज़ की पूछ थी और सच्चे वफ़ादारों को कोई पूछता भी नहीं था। मौलाना ने अपनी तरफ़ से काफ़ी जोर लगाया। लेकिन बेचारे अकेले क्या करते। आख़िर 16 सितम्बर 1857 को कम्पनी को फ़ौज़ ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया।

**खाना बदोशी की ज़िन्दगी**—दिल्ली पर कम्पनी का क़ब्ज़ा होते ही मौलाना के तमाम अरमान मिट्टी में मिल गये। उसके बाद जो खूरेज़ी दिल्ली में हुई उसने एक बार क़यामत का नक्शा आँखों के सामने खींच दिया। मौलाना ने जो फ़तवा दिया था उसकी खबर मुखबिरो के जरिये अंग्रेज़ों को लग चुकी थी और मौलाना की बड़े जोरों से तलाश की जा रही थी। इसी हालत में 24 सितम्बर 1857 को मौलाना अपने खानदान को लेकर चुपचाप दिल्ली से निकल गये और भीकमपुर जिला अलीगढ़ के नवाब साहब के यहाँ पनाह ली। वहाँ करीब 18 दिन रहे। इसके बाद नवाब साहब ने भीकमपुर से करीब 8 मील दूर साँकरा के घाट से मौलाना और उनके खानदान को बदायूँ की तरफ़ उतरवा दिया।

मौलाना करीब दो साल तक इधर-उधर खानाबदोशी की ज़िन्दगी बिताते रहे। लेकिन कुछ ही दिन बाद मल्का विक्टोरिया का आम माफ़ी का ऐलान हुआ। इस पर मौलाना जाहिर हो गये और अपने घर खैराबाद में जाकर रहने लगे।

**गिरफ्तारी और सज़ा**—लेकिन मौलाना सरकारी फेहरिस्त के उन लोगों में थे, जिनको माफ़ी नहीं दी गई थी। इसलिये कुछ ही दिन बाद मौलाना गिरफ्तार कर लिये गये और लखनऊ जाकर उन पर मुक़दमा चलाया गया।

मौलाना ने खुद ही अपनी पैरवी की। इधर जज मौलाना का एक पुराना शागिर्द था और मुखबिर पर भी कुछ ऐसा असर पड़ा कि शिनाख्त के वक्त उसने कह दिया कि फ़तवा देने वाले फ़ज़लेहक़ यह नहीं हैं। इनको मैं नहीं जानता।

---

1.—घमंड

इस तरह मौलाना के छूटने की पूरी उम्मीद थी। लेकिन मौलाना को यह झूठ गवारा न हुआ। उन्होंने अपने आखिरी बयान में कहा कि मुखबिर ने किसी वजह से मेरी शिनाख्त नहीं की है, लेकिन फ़तवा मैंने ही दिया था और आज भी मेरी वही राय है।

जज और गवाह हैरान थे और घर वाले परेशान थे, लेकिन मौलाना ने बात बदलने से इन्कार कर दिया। मौलाना को उम्मीद थी कि फाँसी की सज़ा मिलेगी, लेकिन जज ने रियायत की और कालेपानी की सज़ा दी। मौलाना की यह हिम्मत देखकर सब दंग रह गये।

**कालेपानी में**—मौलाना कालेपानी पहुँचा दिये गये। वहाँ और भी बहुत से मौलवी थे। उन्होंने इनको हाथों हाथ लिया। लेकिन मौलाना वहाँ दिन रात तड़पते रहते थे। कालेपानी में लिखी हुई उनकी किताब 'सूरतुल हिन्दिया' आँसुओं का एक बहता हुआ चश्मा है जिसमें एक-एक हरफ़ में मौलाना की तड़प मौजूद है। वह किताब कपड़ों पर कोयलों से लिखी गई और बड़ी मुश्किल से हिंदुस्तान तक आई। मौलाना ने उसमें अपनी तकलीफ़ों का जो नक्शा खींचा है, उसे पढ़कर आज भी झुरझुरी आने लगती है।

इधर मौलाना की रिहाई की कोशिश भी हो रही थी। आखिर मौलाना के बेटे शम्सुल हक़ रिहाई का परवाना लेकर अन्दमान रवाना हुए और जहाज़ से उतरकर जब शहर में गये तो देखा कि एक जनाज़ा चला आ रहा है जिसके साथ बहुत भीड़ है। पूछने पर मालूम हुआ कि कल 12 सफ़र सन् 1278 हिजरी यानी सन् 1861 ईसवी में मौलाना फ़ज़लेहक़ साहब का इन्तिकाल हो गया और अब दफ़न करने के लिये उन्हें ले जाया जा रहा है।

मुसाफ़िर अपनी आखिरी मंज़िल पर पहुँच चुका था।

## मौलवी अहमद शाह

सन् 1857 की हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई की बाबत अक्सर यह कहा जाता है कि यह लड़ाई सिर्फ़ उन राजाओं, नवाबों और सामन्तों की बगावत थी, जिनकी जायदादें या भत्ते कम्पनी की सरकार ने जब्त कर लिये थे। इसीलिये आम जनता का इस लड़ाई में कोई खास हिस्सा नहीं था।

किसी हद तक यह बात ठीक भी है, लेकिन इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस सामन्तवादी ज़माने में भी हिंदुस्तान में कुछ ऐसे दूरन्देश देशभक्त मौजूद थे, जिन्होंने इस कमजोरी को भाँप लिया था और आम जनता का पूरा सहयोग लेने की कोशिश की थी। ऐसे दूरन्देश देशभक्त नेताओं में एक खास नाम मौलवी अहमद शाह का है।

मौलवी अहमद शाह फ़ैजाबाद जिले के एक बड़े ज़मींदार थे, लेकिन ज़मींदारों की ऐश परस्ती उनको छू भी नहीं गई थी। अपने अच्छे चलन और राजकाजी व मज़हबी जानकारी के लिये वह इलाक़े भर में मशहूर थे और राजाओं व नवाबों के महलों से लेकर किसानों की मामूली झोपड़ियों तक में उनका नाम बड़ी इज़्ज़त से लिया जाता था।

मौलवी अहमद शाह न तो सिर्फ़ मज़हबी किताबों में ही डूबे रहने वाले मौलवी थे, और न रियाया से टैक्स वसूल करके उस पर गुलछर्रे उड़ाने वाले ज़मींदार। मुल्क की सियासत से भी उनको गहरी दिलचस्पी थी और उनको इस बात से बड़ा दुख होता था कि अंग्रेज़ों की ताक़त हिंदुस्तान में धीरे-धीरे बढ़ती चली जा रही है और

कुछ अपने ही भाई अपनी खुदगर्जी में अपने इस मुल्क को गुलाम बनाने में अंग्रेजों की मदद कर रहे हैं। वह जब तब अपने इस खयाल को जाहिर भी किया करते थे। लेकिन उस जमाने में आम जनता को सियासत से कोई दिलचस्पी नहीं थी और राजाओं नवाबों को ऐसी बातें सुनने से भी डर लगता था।

लेकिन सन् 1856 में जब लार्ड डलहौजी ने निहायत बेशर्मा के साथ अवध के इलाक़े को कम्पनी के अधिकार में ले लिया और नवाब वाजिद अली शाह को कैद करके कलकत्ते भेज दिया गया तो मौलवी अहमद शाह इसे बर्दाश्त नहीं कर सके। उन्होंने समझ लिया कि इस तरह एक-एक करके हर एक नवाब और राजा के साथ इसी तरह का बर्ताव होगा और पूरा देश अंग्रेजों के अधीन हो जाएगा। इसके साथ ही मौलवी साहब ने यह भी महसूस किया कि आज़ादी की लड़ाई तब तक कामयाब नहीं हो सकेगी, जब तक कि इस देश की पूरी जनता इसमें हिस्सा न ले। इसीलिए न तो उन्होंने राजाओं नवाबों की इयोदियों के चक्कर लगाए और न सिर्फ़ मुसलमान जनता तक ही अपने प्रचार को महदूद<sup>1</sup> रखा। मौलवी अहमद शाह ने हिंदू मुसलमानों में एक साथ देश की आज़ादी के नाम पर अंग्रेजों के खिलाफ़ हथियार उठाने का प्रचार शुरू कर दिया। सन् 1857 की आज़ादी की लड़ाई के दूसरे नेताओं और मौलवी अहमद शाह में यही खास फ़र्क है, जो उनको कुछ ज़्यादा इज़्जत का हक़दार बना देता है। काश, कुछ और नेता मौलवी अहमद शाह का साथ देते, तो शायद 1857 की लड़ाई इस तरह से नाकामयाब न होती।

मौलवी अहमद शाह के प्रचार का ढंग यह था कि वह लखनऊ से आगरा तक के बीच बराबर दौरे करते रहते थे और दस-दस हज़ार आदमियों की भीड़ उनकी तक्ररीर सुनने के लिए इकट्ठा होती थी। मौलवी अहमद शाह उनको बतलाते थे कि अंग्रेज़ किस तरह इस मुल्क में बढ़ते गए और अगर पूरा मुल्क उनके क़ब्ज़े में चला गया तो उसका नतीजा आम जनता के लिए क्या होगा। इस तरह यह तक्ररीरें सौ फीसदी सियासी तक्ररीर होती थीं और मौलवी अहमद शाह की ज़बान में कुछ ऐसा जादू था कि कई घंटे तक हज़ारों आदमी बुत बने हुए उनकी तक्ररीरें सुनते रहते थे और मुल्क की बेबसी पर आँसू बहाते रहते थे। उस जमाने में मौलवी अहमद शाह शायद पहले नेता थे, जिन्होंने अपने प्रचार का यह तरीका अपनाया था।

---

1.— सीमित

इसी जमाने में मौलवी अहमद शाह ने बहुत सी छोटी-छोटी किताबें भी लिखीं, जो पढ़े-लिखे हलके में बड़ी तादाद में बाँटी गयीं। इन किताबों में भी वही बात थी, जो मौलवी साहब की तक्रारों में होती थी। इस तरह हजारों लाखों आदमियों के दिलों में मौलवी अहमद शाह ने देशभक्ति का सच्चा जन्मा पैदा कर दिया।

उस जमाने में अंग्रेजों के मुखबिरों का जाल सिर्फ राजाओं नवाबों के राजदरबारों और महलों तक ही महदूद था, इसलिए मौलवी अहमद शाह का यह खुला प्रचार भी कुछ महीनों तक उनकी नज़र में न आ सका। लेकिन जब आग ज्यादा बढ़ी और उसकी लपटें अंग्रेजों को भी लगने लगी, तो उन्होंने मौलवी अहमद शाह को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया। अवध की पुलिस ने अंग्रेजों का हुक्म मानने से इन्कार कर दिया, इस पर फ़ौज भेजी गई और मौलवी साहब गिरफ्तार कर लिये गए, इसके साथ ही तुरन्त मौलवी साहब का मुकदमा भी कर लिया गया और उनको फ़ाँसी की सजा सुना दी गई। फ़ाँसी की तारीख तक के लिये मौलवी साहब को फ़ैजाबाद जेल में बन्द कर दिया गया।

मौलवी अहमद साहब की गिरफ्तारी और उनकी फ़ाँसी की सजा की खबर जनता को जैसे ही मिली, वैसे ही इलाक़े भर में आग सी लग गई। फ़ैजाबाद शहर में उस वक्त दो पैदल पलटन, कुछ सवार और कुछ तोपखाना था, जो इस वक्त तक अंग्रेजों का पूरी तरह वफ़ादार था। लेकिन मौलवी अहमद शाह की गिरफ्तारी की खबर पाते ही वह देश के वफ़ादार हो गए और मौलवी अहमद शाह हिंदुओं को भी कितने प्यारे थे, इसका सब से बड़ा सबूत यह है कि मौलवी साहब की गिरफ्तारी के विरोध में सब से पहले हथियार उठाने वाला एक हिंदू सूबेदार दिलीप सिंह था, जिसने फ़ैजाबाद के तमाम अंग्रेज अफसरों को कैद कर लिया और फ़ैजाबाद की आज़ादी का एलान कर दिया।

इसके बाद हिंदुस्तानी सिपाहियों और जनता की बड़ी भीड़ जेलखाने पर पहुँची और उसने दीवार तोड़ कर मौलवी अहमद शाह को बाहर निकाल लिया। मौलवी साहब की बेड़ियाँ काट डाली गयीं और जनता व सिपाहियों ने उनको अपना नेता चुन कर उनकी ही मातहत में काम करने का फैसला किया। इस तरह फ़ैजाबाद के इलाक़े की बागडोर पूरी तरह मौलवी साहब के हाथ में आ गई।

उस वक्त मौलवी साहब ने जो पहला काम किया, उससे न सिर्फ़ मौलवी साहब

का बल्कि पूरे हिंदुस्तान का सर ऊँचा होता है। यह काम था अंग्रेज़ अफ़सरों और उनके बाल-बच्चों को पूरी हिफाज़त के साथ फ़ैज़ाबाद से रवाना करना। यह अंग्रेज़ किशतियों के जरिये फ़ैज़ाबाद से रवाना किये गए और रास्ते के लिए उनको काफ़ी रसद भी दे दी गई। मौलवी अहमद शाह ने उन अंग्रेज़ों की भी हिफाज़त की, जो उनको फ़ाँसी के तख्ते पर भेज चुके थे। अंग्रेज़ों के साथ ठीक यही बर्ताव मौलवी अहमद शाह के दूसरे साथियों यानी शाहगंज के ताल्लुकदार राजा मानसिंह, सालोनी के ज़मींदार सरदार रुस्तम शाह और काला के राजा हनुमन्त सिंह ने भी किया। अंग्रेज़ों को फ़ैज़ाबाद से निकाल देने के बाद 6 जून 1857 को यह एलान कर दिया गया कि फ़ैज़ाबाद के इलाक़े से कम्पनी की हुकूमत खत्म हो चुकी है और अब वह वाजिद अली शाह की हुकूमत में है। इसके साथ ही पूरे इलाक़े का ऐसा इन्तज़ाम भी कर दिया गया, जिससे गुन्डे और शरारती लोग जो ऐसे ही मौक़ों की तलाश में रहते हैं, सर न उठा सकें।

इसके बाद जब लखनऊ पर अंग्रेज़ों ने फिर घेरा डाला, तो मौलवी अहमद शाह अपने हज़ारों सिपाहियों के साथ लखनऊ में जा कर जम गये। लखनऊ शहर के भीतर नवम्बर सन् 1857 से लेकर मार्च 58 तक आज़ादी की लड़ाई बराबर चलती रही और मौलवी अहमद शाह बराबर उसमें हिस्सा लेते रहे। 11 मार्च सन् 1858 को जब कैम्पबेल की फ़ौज़, गोरखों की फ़ौज़ और पूरबी हिस्से से आने वाली अंग्रेज़ी फ़ौज़ों ने लखनऊ पर एक साथ चढ़ाई की थी उस वक्त भी मौलवी अहमद शाह लखनऊ के सेनापतियों में एक खास हैसियत रखते थे। फ़ौज़ की कमान करने की उनकी क़ाबलियत कितनी बढ़ी-चढ़ी थी इसका ज़िक्र करते हुए अंग्रेज़ लेखक 'होम्स' ने लिखा है :

“फ़ैज़ाबाद का मौलवी अहमदुल्लाह एक ऐसा आदमी था, जो जज़्बात और क़ाबलियत दोनों के लिहाज़ से एक बड़ी तहरीक को चलाने और एक बड़ी फ़ौज़ की कमान संभालने के लिये सब तरह से योग्य था।”

लेकिन इन दिनों ही दिल्ली की तरह लखनऊ में भी हिंदुस्तानी नेताओं में आपसी फूट और जलन फैलने लगी थी। बजाय क़ाबलियत के ऊँचे खानदान और ऊँची हैसियत को तरजीह<sup>1</sup> दी जाती थी और ऐसे ही लोगों के हाथों में फ़ौज़ की कमान रहती थी।

---

1.— वरीयता

यह आपसी फूट और जलन इतनी बढ़ गई थी, कि एक बार मौलवी अहमद शाह को गिरफ्तार तक कर लिया गया, लेकिन जब फ़ौज और जनता की तरफ से इसका विरोध हुआ तो मौलवी साहब छोड़ दिये गये। इससे मौलवी साहब के दिल को धक्का तो लगा पर वह देश की जरूरत को समझते हुए अलग न हुए और बराबर लड़ाइयों में हिस्सा लेते रहे। जितनी बार हिंदुस्तानी सेना ने आलमबाग पर हमला किया, मौलवी अहमद शाह घोड़े या हाथी के ऊपर हमेशा सबसे आगे लड़ते हुए देखे जाते थे।

15 जनवरी सन 1858 को मौलवी अहमद शाह के एक हाथ में गोली लगी। क़रीब एक महीने तक वह इसी वजह से चारपाई पर पड़े रहे। लेकिन 15 फ़रवरी को वह फिर मैदान में आकर जम गये। लेकिन अब अपने लोगों में ही सैकड़ों गद्दार पैदा हो चुके थे। नतीजा यह हुआ कि 14 मार्च को लखनऊ पूरी तरह अंग्रेजों के हाथों में आ गया और मौलवी अहमद शाह नवाब बिरजीस क़दर और बेगम हज़रत महल के साथ शहर से निकल गये।

मौलवी अहमद शाह के दिल में लखनऊ छोड़ने का बड़ा रंज था, इसलिए थोड़े से साथियों को लेकर एक बार फिर मौलवी साहब लखनऊ पहुँचे और सआदतगंज मुहल्ले में अपना मोर्चा जमा दिया। उस वक्त मौलवी साहब के पास सिर्फ़ दो तोपें थीं; फिर भी वह देर तक अंग्रेजों की बहुत बड़ी फ़ौज का जम कर मुकाबला करते रहे। लेकिन आखिर में उनको हटना पड़ा। अंग्रेजी फ़ौज ने छह मील तक मौलवी साहब का पीछा किया, लेकिन वह उनको नहीं पा सकी। मौलवी साहब फिर साफ़ निकल गये।

इसके बाद मौलवी साहब लखनऊ के पचास मील के अन्दर-अन्दर अंग्रेजों के खिलाफ़ बराबर लड़ाई चलाते रहे। कुछ दिन बाद वह नाना साहब के साथ बरेली जा पहुँचे। कुछ ही दिनों में दिल्ली और अवध के कुछ और नेता और अवध की बेगम हज़रत महल भी बरेली जा पहुँची। यह खबर मिलते ही सर कालिन कैम्पबेल अपनी फ़ौज के साथ बरेली जा पहुँचा। नेताओं ने फैसला किया कि बरेली से निकल कर और रुहेलखण्ड में चारों ओर फैलकर अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़ाई जारी रखी जाय। इसी फैसले के मुताबिक़ मौलवी साहब ने बरेली से निकल कर शाहजहाँपुर पर मोर्चा जमाया और कुछ ही देर में उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। कैम्पबेल फिर अपनी फ़ौज के साथ शाहजहाँपुर पहुँचा और एक बार तो ऐसा



मालूम होने लगा कि इस बार मौलवी साहब अंग्रेजों के फन्दे से नहीं बच सकेंगे। लेकिन मौलवी साहब को घिरा हुआ देख कर रुहेलखण्ड के सभी क्रान्तिकारी नेता, नाना साहब, बेगम हजरत महल, शाहजादा फ़िरोजशाह और राजा तेजसिंह वगैरह अपनी-अपनी फ़ौजें लेकर शाहजहाँपुर पहुँच गये और मौलवी साहब को निकाल लाये। यह घटना साबित करती है कि मौलवी साहब उन नेताओं की नज़र में क्या हैसियत रखते थे।

लेकिन घर के गद्दारों से कौन बच सकता है। मौलवी साहब जब दोबारा अवध पहुँचे और अंग्रेजों के खिलाफ़ अपना संगठन करने लगे, तो पवन नाम की एक छोटी-सी रियासत के राजा जगन्नाथ सिंह ने मौलवी साहब को अपने यहाँ बुलाया और जब मौलवी साहब वहाँ गये तो धोखा देकर उनको गोली मार दी गई। राजा जगन्नाथ सिंह ने फ़ौरन मौलवी साहब का सिर काट कर पास के अंग्रेज़ कैम्प में पहुँचा दिया, जिसके बदले में उसको पचास हजार रुपये अंग्रेजों से इनाम में मिले। इस तरह 5 जून सन् 1858 को आज़ादी की लड़ाई का एक सच्चा देशभक्त नेता हमारे ही विश्वासघात के कारण मारा गया और उसकी मौत ने दूसरे नेताओं को भी बिल्कुल पस्त हिम्मत कर दिया।

मौलवी अहमद शाह के बारे में मशहूर इतिहास लेखक मालेसन ने अपनी किताब 'इंडियन म्यूटिनी' (हिंदुस्तान का गदर) की पहली जिल्द, भाग चार, सफ़ा 381 में लिखा है—मौलवी बड़ा अजीब आदमी था...सेनापति की हैसियत से उसकी काबलियत के बहुत से सुबूत मिले...कोई भी दूसरा आदमी घमंड के साथ यह नहीं कह सकता कि मैंने दो मर्तबा सर कालिन कैम्पबेल को मैदान में हराया है!...अगर एक ऐसे इन्सान को, जिसके देश की आज़ादी बेइन्साफ़ी के साथ छीन ली गई हो और जो फिर से उसको आज़ाद करने की कोशिश और इसके लिये जंग करे, देशभक्त कहा जा सकता है, तो इसमें ज़रा भर भी शक नहीं है कि मौलवी अहमद शाह सच्चा देशभक्त था।

## मौलाना मुहम्मद बरकतुल्ला

हिंदुस्तान के उन सैकड़ों हजारों देश भक्तों में, जो देश की आजादी के लिए अपना घरबार छोड़ कर विदेश गये और फिर जीते जी अपने वतन को न लौट सके, मौलाना मुहम्मद बरकतुल्ला के नाम और काम की चर्चा हमेशा की जाती रहेगी और वतन की भलाई के लिये काम करने वाले लोग हमेशा उनकी ज़िन्दगी के हालात से रोशनी और हिम्मत पाते रहेंगे।

इसकी वजह यह है कि मौलाना बरकतुल्ला ने जिस ज़माने में देशभक्ति की राह में क्रदम रक्खा, उस ज़माने में हालांकि बहुत से लोग मुल्क की आजादी के लिए कोशिश कर रहे थे और इसके लिए निहायत दिलेरी के साथ तरह-तरह की तकलीफें सह रहे थे लेकिन उनमें से ज्यादातर लोगों की सियासत महज़ जज़्बाती थी, “हिंदुस्तान हमारा, हमारे पुरखों का देश है, इसकी तहज़ीब और इसका पुराना इतिहास बहुत शानदार है लेकिन गुलाम होने की वजह से इसकी पुरानी इज़्ज़त धूल में मिल गई है, इसलिए हमको अपने देश को आजाद करने की कोशिश करनी चाहिये।” उस वक्त अक्सर देशभक्तों के खयालात ऐसे ही होते थे। इसके अलावा एक बात यह भी उनमें थी कि चूंकि उनकी देशभक्ति अपने पिछले शानदार ज़माने की याद और उसे फिर से हासिल करने की ख्वाहिश पर कायम थी, इसलिए अगर मुसलमान देशभक्त मुगलों जैसा राज चाहते थे, तो हिंदू देशभक्त राजपूतों जैसा या मरहठों जैसा। इन दोनों में हालांकि कोई आपसी मन मुटाव नहीं था और न इन दोनों में फिरकापरस्ती<sup>1</sup> ही थी, फिर भी अपने इन खयालात की वजह से दोनों एक दूसरे के नज़दीक न आ सके। यही वजह है कि

---

1.— सांप्रदायिकता

सन् 1898 से सन् 1915 तक हम हिंदुस्तान के हिंदू और मुसलमान इन्कलाबियों को साफ़-साफ़ अलग-अलग सफ़ों में पाते हैं। उस वक्त देवबन्द का मदरसा अगर मुसलमान इन्कलाबियों का गढ़ था, तो महाराष्ट्र और बंगाल हिंदू इन्कलाबियों के गढ़ थे। लेकिन न तो महाराष्ट्र और बंगाल के हिंदू इन्कलाबियों में किसी मुसलमान का नाम पाया जाता है और न मदरसा देवबन्द के क्रान्तिकारियों में किसी हिंदू का जिक्र मिलता है। इसकी वजह सिर्फ़ यह थी कि उस वक्त जमहूरियत यानी पंचायती राज की बात इन लोगों के दिमाग में नहीं थी। लिहाजा दोनों ने कभी एक साथ मिलकर काम करने की ज़रूरत ही महसूस नहीं की। हालांकि जब कभी मौक़ा आया, तब इन देशभक्तों ने हिंदू मुस्लिम एकता की पूरी कोशिश की। मिसाल के लिये हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही का वह फतवा इस सिलसिले में पेश किया जा सकता है, जो उन्होंने सन् 1905 में दिया था और जिसमें मुसलमानों से कहा गया था कि वह कांग्रेस में शामिल हों, जो हिंदू मुसलमानों की मिली जुली जमात है; और सर सय्यद की 'मुस्लिम अंजुमन' में, जो सिर्फ़ मुसलमानों की जमात है, शरीक न हों।

लेकिन इसी ज़माने में मौलाना बरकतुल्ला ने इस मैदान में आकर इस बड़ी कमी को पूरा कर दिया। मौलाना भोपाल के रहने वाले थे और आपके पिता रियासत के एक बड़े सरकारी अफ़सर थे। उन्होंने अपने लड़के को ऊंची से ऊँची तालीम पाने के लिए विलायत भेजा। इस तरह मौलवी बरकतुल्ला भरी जवानी में विलायत पहुँचे। लेकिन वह विलायत पहुँचकर दूसरे हिंदुस्तानी विद्यार्थियों की तरह रास रंग में नहीं डूब गए, बल्कि इंग्लैण्ड पहुँचते ही उनके दिल में यह सवाल उठा कि इंग्लैण्ड जैसा छोटा मुल्क इतना खुशहाल क्यों है और मेरा देश हिंदुस्तान इतना विशाल होता हुआ इतना गरीब क्यों है। उन्होंने इस पर गौर करना शुरू किया और फिर इस नतीजे पर पहुँचे कि हिंदुस्तान की दिल को कँपा देने वाली यह गरीबी सिर्फ़ इसलिये है कि 'हिंदुस्तान पर अंग्रेज़ों' का क़ब्ज़ा है। अंग्रेज़ी हकूमत जॉक की तरह हिंदुस्तान का खून पी रही है, जिसका नतीजा यह है कि अंग्रेज़ क़्रौम और उनका मुल्क मोटा और मज़बूत होता जा रहा है जबकि हमारा देश दिनों दिन कमज़ोर और बीमार पड़ता जा रहा है।

उस ज़माने में महाराष्ट्र के मशहूर नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले का बड़ा ज़ोर था। "हिंदुस्तान की माली हालत कैसे बिगड़ी?" इस मज़मून पर उनके बड़े जोरदार जानकारी से भरे हुए लेकर होते थे, इसलिए शुरू-शुरू में मौलाना बरकतुल्ला

साहब पर उनका बहुत असर पड़ा। लेकिन कुछ ही दिनों बाद वह उनकी नरम नीति से ऊब गये और उनका झुकाव तिलक की पार्टी की तरफ हो गया। इसके बाद मौलाना हिंदुस्तान आ गये और उन्होंने भोपाल से एक अखबार निकालना शुरू कर दिया। उस ज़माने में, जबकि विलायत हो आना बहुत बड़ी बात समझी जाती थी और विलायत के पास लोगों को बड़ी से बड़ी नौकरियाँ मिलना बेहद आसान था, मौलाना ने उस तरफ न जाकर अपने मुल्क की खिदमत करने का फैसला किया। इससे जाहिर होता है कि मौलाना की देशभक्ति महज़ दिखावटी नहीं थी। उनके दिल में सचमुच अपने मुल्क के लिये भारी दर्द था और वह उसके लिये भारी से भारी कुर्बानी करने में भी आगा पीछा नहीं सोचते थे।

मौलाना का यह अखबार कुछ दिनों तक चला, लेकिन उसके गरम विचारों को ज़्यादा दिन तक सरकार बर्दाश्त नहीं कर सकी। अखबार बन्द कर दिया गया और मौलाना पर कड़ी नज़र रखी जाने लगी। मौलाना समझ गये कि अब वह देश में रह कर अपने ख़यालात का प्रचार नहीं कर सकेंगे। इसलिये वह जापान पहुँचे और वहाँ की एक यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर हो गये। वहाँ से उन्होंने 'इस्लामिक फ़ेटरनिटी' के नाम से एक अखबार निकालना शुरू किया।

यह अखबार सर सय्यद की उन हलचलों की मुखालफ़त करता था, जिनसे हिंदू मुसलमानों में फूट पड़ जाने का अन्देशा था। मौलाना बरकतुल्ला साहब का कहना था कि मुसलमानों की भलाई सिर्फ़ इसी में है कि वह हिंदुओं के साथ मिलकर अंग्रेज़ हुकूमत से मोर्चा ले।

इस अखबार की वजह से जब अंग्रेज़ हुकूमत ने अपने काम में बाधा पड़ते देखी, तो उसने जापान सरकार पर इसके ख़िलाफ़ कार्रवाई करने के लिए ज़ोर डाला। इसका नतीजा यह हुआ कि जापान की हुकूमत ने उस अखबार को बन्द करा दिया। अखबार के बन्द होते ही मौलाना ने भी अपना बोरिया बिस्तर सँभाला और जापान से चल दिये। जिस यूनिवर्सिटी में मौलाना प्रोफ़ेसर थे, उसके मुन्तज़िम नहीं चाहते थे कि मौलाना यूनिवर्सिटी को छोड़ जायँ, लेकिन मौलाना ने लड़के पढ़ाने और पेट पालने के लिए अपना वतन नहीं छोड़ा था। वह जापान से सीधे अमरीका पहुँचे और अपना पुराना काम शुरू कर दिया। लेकिन उनको यह देख कर बड़ी तकलीफ़ होती थी कि उनके मुल्क के मुसलमान कुछ स्वार्थी नेताओं के बहकावे में आकर आज इस बात पर बहस करने में लगे हुए हैं कि

कांग्रेस में मिलना चाहिये या नहीं। हालाँकि उस वक्त कांग्रेस की जो नरम पॉलिसी थी, उसकी वजह से मौलाना कांग्रेस को भी कुछ ज्यादा काम की चीज़ नहीं समझते थे। लेकिन उनका खयाल था कि यह देश का एक मिला जुला प्लेटफार्म है, जिसका असर हकूमत पर भी कुछ न कुछ पड़ता है। इस सिलसिले में मौलाना ने 21 फ़रवरी सन् 1905 को एक खत मौलाना हसरत मोहानी साहब को लिखा था। यह खत मौलाना की उस वक्त की विचार-धारा को पूरी तरह जाहिर करता है, इसलिये उसका कुछ हिस्सा यहाँ दिया जाता है। खत फ़ारसी में था, जिस में मौलाना ने लिखा था :

“हाल ही में आपने हिंदू-मुस्लिम एकता पर जो संपादकीय लिखा है और इन्डियन-नेशनल कांग्रेस के सालाना जलसे में मुसलमानों के शामिल होने के बारे में लिखने की जो मेहरबानी की है, उसका अंग्रेजी अनुवाद मैंने देखा। बेहद खुशी हुई।

“सबसे पहली बात, जो हिंदू-मुसलमान एकता के लिये दलील बन सकती है, देश-प्रेम और हम जिन्स (दोनों का हिंदुस्तानी) होना है। असलियत तो यह है कि ज्यादातर मुसलमानों के पुरखे हिंदू थे और हिंदुस्तानी थे। इसलिए मज़हबी मतभेद उसकी असली एकता को खत्म नहीं कर सकते। इसके अलावा हिंदू मुसलमान एकता की सब से बड़ी ज़रूरत इसलिए भी है कि इस वक्त देश में आम तबाही फैली हुई है।

“पिछले दस बरसों में करीब दो करोड़ इन्सान भूख से मर चुके हैं, और इन ग़रीबी के मारे हुए लोगों में हिंदू भी थे और मुसलमान भी। इस हादसे (दुर्घटना) की भयंकरता तब समझ में आती है जब हम इस तादाद का मुकाबला ईरान की आबादी से करें, जो सिर्फ़ डेढ़ करोड़ है।

“आखिर यह ग़रीबी कहाँ से आई?

“(1) जिस वक्त से ब्रिटिश हुकूमत कायम हुई, अंग्रेजी कारखानों के ज़रिये कपडा, हथियार, बरतन वगैरह बनाकर हिंदुस्तान की तमाम कारीगरी को धूल में मिला दिया गया। 18वीं सदी के आखिर और 19वीं सदी के शुरू में इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने यह कानून बनाया कि हिंदुस्तान की बनी हुई चीज़ें जब इंग्लैंड आवेंगी, तो उन पर कस्टम-ड्यूटी करीब सत्तर या अस्सी फ़ीसदी लगेगी और इंग्लैंड की बनी हुई चीज़ों पर जो हिंदुस्तान पहुँचेंगी, या तो कस्टम-ड्यूटी लगाई ही

न जाय और अगर लगाई भी जाय, तो बहुत कम और हिंदुस्तान की हुकूमत चलाने के खयाल से लगाई जाय। यही वजह है कि हिंदुस्तान की कारीगरी दूसरे मुल्कों में ग्राहक नहीं पा सकी और अपने हिंदुस्तान में इंग्लैंड की चीजें सस्ती होने की वजह से खूब बिकने लगीं। इसलिए धीरे-धीरे हिंदुस्तान की तमाम कारीगरी जड़ से खत्म हो गई और हिंदुस्तान, जो अपने पुराने जमाने से कला कौशल का घर समझा जाता था, सिर्फ एक खेती बाड़ी का मुल्क बन कर रह गया।

“दूसरी वजह यह है कि हिंदुस्तान की तमाम उपज और यहाँ तैयार होने वाली चीजों को अंग्रेज पूँजीपति बहुत सस्ता खरीद कर दूसरे मुल्कों में मंहगा बेचते हैं।

“तीसरी वजह यह है कि हिंदुस्तान में खेती नए तरीकों से नहीं होती।

“चौथी वजह यह है कि हिंदुस्तान की हुकूमत करीब तीस करोड रुपया हिंदुस्तान की वज्जारत पर खर्च करने के लिये, इंग्लैंड के पूँजीपतियों से लिये हुए ऋज्ज का सूद चुकाने के लिये और पुराने अंग्रेज नौकरों की पेन्शन देने के लिये हर साल विलायत भेज देती है।

“पाँचवीं वजह यह है कि सब बड़े-बड़े ओहदे सिर्फ अंग्रेजों को दिये जाते हैं और छोटी-छोटी नौकरियाँ ही हिंदुस्तानियों को मिलती हैं।

“छठी वजह यह है कि कानून और इण्डियन सिविल सर्विस के इम्तहान देने के लिये हिंदुस्तानियों को इंग्लैंड जाने के लिये मजबूर कर दिया गया है।

“यह थोड़े से नुकसान हैं, जो हमारी बरबादी के असली कारण हैं और जिनसे पूरे हिंदुस्तान की बरबादी हो रही है। यह नुकसान मैंने बहुत मुख्तसर<sup>1</sup>, यानी किसी बड़े ढेर में एक मुट्ठी की तरह, इसलिए बयान किये हैं, जिससे उन लोगों को, जो कांग्रेस से दूर रहना चाहते हैं, नसीहत हासिल हो।

“अगर मुसलमान कांग्रेस में शामिल होकर इस कशमकश के मैदान में नामवरी की गेंद अपने हिंदू भाई के आगे निकाल ले जाय, तो वह इस्लाम की बहुत बड़ी। खिदमत करेंगे।”

---

1.—संक्षिप्त

यह खत बताता है कि मौलाना बरकतुल्ला साहब की सियासत सिर्फ जज्बाती नहीं थी, बल्कि अपने लाखों करोड़ों देश भाइयों की तकलीफें और ग़रीबी ही उनको इस मैदान में खींच लाई थी।

इसके बाद सन् 1910-11 में जब अमरीका में गदर पार्टी का संगठन हुआ, तो मौलाना उसमें शामिल हो गये, यहाँ पर यह बता देना ज़रूरी है कि गदर पार्टी के नेता सिक्ख थे, लेकिन मौलाना को उसमें शामिल होना ज़रूरी मालूम हुआ क्योंकि उनके नज़दीक देशभक्तों की एक अलग क्रौम थी, जिनमें हिंदू, मुसलमान, सिक्ख वगैरह का कोई भेद ही नहीं था। ग़दर पार्टी के सिक्ख भाइयों ने भी उनको सर आँखों पर बैठाया और आगे चलकर जब-जब ग़दर पार्टी के नेताओं में फूट पड़ी, तब मौलाना ही एक अकेले ऐसे आदमी रहे, जिन पर गदर पार्टी का हर एक मेम्बर पूरी तरह यक़ीन रखता था और उनकी बात मान लेता था।

सन् 1914 में जब यूरोप में बड़ी लड़ाई शुरू हुई तो मौलाना फ़ौरन जर्मनी पहुँचे और वहाँ से जो 'इण्डो-जर्मन-टर्किश मिशन' अफ़ग़ानिस्तान के लिये चला, उसके एक मेम्बर बनकर टर्की होते हुए अफ़ग़ानिस्तान आ गये। यह मिशन इसलिए आया था, जिससे कि अफ़ग़ानिस्तान की सरकार को अपनी तरफ़ मिलाकर हिंदुस्तान पर हमला कर दिया जाय। यहीं पर मौलाना बरकतुल्ला साहब की जान-पहचान मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी और मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब के साथ हुई और वह हिंदुस्तान की उस आरज़ी आज़ाद हुकूमत में शामिल हो गये, जो इन लोगों ने बनाई थी। इस सरकार में मौलाना बरकतुल्ला साहब की हैसियत सब से बड़े वज़ीर की थी।

जैसा कि सभी जानते हैं कि यह हुकूमत अफ़ग़ानिस्तान की अंग्रेज़परस्त पालिसी की वजह से कुछ ज्यादा काम न कर सकी, इसलिये लड़ाई खत्म होने पर मौलाना रूस चले गये। वहाँ आपने रूस की हुकूमत और कम्यूनियजम की बाबत पूरे हालत समझे और पढ़े, जिससे आपको एक नई रोशनी मिली। लेकिन बहुत सी बातें ऐसी भी थीं, जिनसे रूस के नज़रिये से इत्तिफ़ाक़ नही करते थे। इसलिए आप रूस से लौटकर जर्मनी आ गये और वहाँ से 'अल इस्लाह' नाम का एक अखबार निकालने लगे। इस अखबार की मंशा भी हिंदुस्तान के मुसलमानों को अंग्रेज़ों के मुकाबले में खड़ा कर देना था। यह अखबार कुछ दिनों तक चला, लेकिन रुपये-पैसे की तंगी की वजह से आख़िर मौलाना को इसे बन्द करना पड़ा।

फ़रवरी सन् 1927 में जब ब्रुसेल्स में 'एण्टी इम्पीरियलिज्म काङ्ग्रेस' हुई तो आपने उसमें ग़दर पार्टी के सरकारी नुमाइन्दे की हैसियत से हिस्सा लिया। इस काङ्ग्रेस में तमाम दुनिया के नुमाइन्दे आये थे और हिंदुस्तान की काङ्ग्रेस की तरफ़ से इसमें पं. जवाहरलाल नेहरू ने हिस्सा लिया था। उसी वक्त आपकी मुलाक़ात नेहरू जी से भी हुई थी जिसका ज़िक्र नेहरू जी ने अपनी मशहूर किताब 'मेरी कहानी' में बहुत अच्छे लफ़्ज़ों में किया है।

इस काङ्ग्रेस के बाद ही सान फ़्रान्सिसको में ग़दर पार्टी का सालाना इजलास हुआ, जिसमें आपको बहुत इसरार के साथ बुलाया गया। उस वक्त आपकी सेहत ऐसी नहीं थी कि आप इतनी दूर की यात्रा कर सकें। फिर भी आप इन्कार न कर सके और वहाँ पहुँचे। इस इजलास में होने वाली तक्ररीर ही आपकी सबसे आखिरी तक्ररीर थी, जिसमें आपने अपने साथियों से ब्रिटिश हुकूमत के ख़िलाफ़ बराबर लोहा लेते रहने की अपील की थी। कहा जाता है कि यह तक्ररीर मौलाना की सबसे अच्छी और सबसे ज़्यादा कामयाब तक्ररीर थी, जिसके एक-एक लफ़्ज़ में ग़जब का जोश और दर्द था। बहुत से लोग तो इस तक्ररीर को सुनकर रोने लगे थे।

ग़दर पार्टी के इजलास<sup>1</sup> के बाद ही आप बीमार पड़ गये। उस वक्त आपकी उमर पैंसठ बरस की थी, जिसके करीब 22 बरस आपने जिलावतनी<sup>2</sup> की हालत में एक मल्क से दूसरे मुल्क में भागते दौड़ते बिताये थे। उस ज़माने में उनको जिस हालत में रहना पड़ा, उसकी कहानी आज भी पत्थर से पत्थर दिल को पिघला सकती है। पास में पैसा नहीं, रहने को ठिकाना नहीं, बिलकुल बेगाना मुल्क, अंग्रेज़ी हुकूमत के जासूसों का घेरा और साथियों में भी आपसी फूट। भला इस हालत में किसकी हिम्मत कायम रख सकती है। लेकिन मौलाना जिसे भी मिले और जब भी मिले, हँसते हुए ही मिले। जब उनके और साथी इन मुसीबतों और परेशानियों की कड़वाहट की वजह से आपस में लडते थे और एक दूसरे पर बुरे से बुरे इलज़ाम लगाने लगाते थे, तब उनको समझाना और धीरज बँधाना मौलाना का ही काम था। वह कभी अपनी मुसीबतों की बात जबान पर भी नहीं लाते थे और अपने हर एक साथी की मुसीबत सुनने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। यही वजह थी कि हर एक हल्के में वह बड़ी इज़ज़त की निगाह से देखे जाते थे।

---

1.— जलसा, 2.— देश निकाला



कुछ लोग उनको पिछड़े हुए खयालों का समझते थे, क्योंकि उनकी हर बात “कुछ रूहानियत का रंग लिये हुए होती थी। बावजूद इसके कि वह तमाम यूरोप घूम आए थे और रूस में भी काफी दिनों तक रहे थे, खुदा और मजहब पर उनका विश्वास दिनोंदिन पक्का होता गया। शायद ही कभी उन्होंने एक वक्त भी नमाज़ छोड़ी हो और शायद ही किसी रमज़ान में एक दिन भी बिना रोज़ा रखे रहे हों। फिर भी और शायद इसीलिये वह हिंदू-मुसलमानों की एकता पर दिल से यक़ीन रखते थे और उनको आपसी फूट से इतनी नफरत और चिढ़ थी कि सिर्फ़ इस बारे में वह किसी को भी कभी माफ़ नहीं कर सकते थे।

अपनी उस आख़िरी बीमारी के वक्त भी उनकी गरीबी की हालत यह थी कि उनका बिस्तर एक छोटी-सी कोठरी में था, जिसमें फ़र्नीचर के नाम पर एक मेज़ तक नहीं थी और दवा या डाक्टर का तो ज़िक्र करना ही फ़ज़ल है। इस हालत में हमारे देश की आज़ादी की लड़ाई का यह सूरमा अपनी आख़िरी रातें बिता रहा था। लेकिन फिर भी उनके चेहरे की मुस्कराहट छिनी नहीं जा सकी और 5 जनवरी 1928 को जब उन्होंने हमेशा के लिये अपनी आँखें बन्द कर लीं, तब भी उनके चेहरे पर वही मुस्कराहट बनी रही।

मरते वक्त उन्होंने अपने साथियों से कहा था : “तमाम ज़िन्दगी मैं ईमानदारी के साथ अपने वतन की आज़ादी के लिये कोशिश करता रहा। मेरी यह ज़बरदस्त खुशकिस्मती थी कि मेरी यह नाचीज़ ज़िन्दगी मेरे वतन के काम आई। आज इस ज़िन्दगी से विदा लेते समय जहाँ मुझे यह अफ़सोस है कि मैं अपनी कोशिशों में नाकामयाब रहा, वहाँ मुझे इस बात की भी तसल्ली है कि मेरे बाद मेरे मुल्क की मदद करने के लिये आज लाखों आदमी आगे बढ़ रहे हैं, जो सच्चे हैं, बहादुर हैं, जाँबाज़ हैं। मैं इल्मीनान के साथ अपने मुल्क की किस्मत उनके हाथों में सौंप कर जा रहा हूँ।” यह उस देशभक्त के आख़िरी लफ़ज़ थे जो इस दुनिया ने सुने। इस के बाद तो सिर्फ़ उनकी याद ही बाक़ी रह गई।

मौलाना मुहम्मद बरकतुल्ला की ज़िन्दगी के यह तमाम हालात मालूम होने पर कभी-कभी दिल में ख़याल होता है कि काश वह आज भी होते और आज़ाद हिंदुस्तान में कुछ दिन ही बिता लेते। लेकिन फिर ख़याल आता है कि उनका आज न होना भी अच्छा ही है, क्योंकि अगर वह आज होते, तो या तो पाकिस्तान की किसी जेल में होते, क्योंकि वह हिंदू-मुस्लिम एकता के हामी थे और यह

बरबादी व आपसी नफ़रत बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। और अगर वह हिंदुस्तान में रहते तो उनके इसी मुल्क के बच्चे उनके हिंदुस्तान में रहने पर एतराज़ करते और उनकी वफ़ादारी पर कोई ऐसे साहब शक जाहिर करते नज़र आते, जिनकी पूरी उम्र ब्रिटिश हुकूमत के तलुवे सहलाने में बीती होती। इसलिये यह अच्छा ही है कि आज वह ऐसी जगह हैं, जहाँ उनसे वफ़ादारी का हलफ़ उठाने के लिए कह कर हम उनकी तौहीन नहीं कर सकते। हाय रे बदकिस्मत हिंदुस्तान !

## मौलाना महमूदुल हसन

वलीउल्लाही जमात के छोटे इमाम मौलाना महमूदुल हसन साहब ने जमात की बागडोर पूरी तरह तो सन् 1905 में हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही के मरने के बाद अपने हाथ में ले ली, पर इस तहरीक में काम करना उन्होंने मौलाना कासिम साहब के सामने शुरू कर दिया था और उनके काम को देखकर मौलाना कासिम साहब को यक्रीन हो गया था कि वलीउल्लाही तहरीक मौलाना महमूदुल हसन साहब की लीडरी में अच्छी तरह फल-फूल सकेगी।

मौलाना महमूदुल हसन साहब की पैदायश 1267 हि. में देवबन्द में हुई थी। उनके बाप मौलाना जुलफिकार अली खाँ और ताऊ मौलाना महताब अली साहब वलीउल्लाही तहरीक के पुराने मददगार थे और उन इने-गिने आदमियों में से थे जिनकी मदद से ही सन् 1867 ई. के उस ज़माने में मौलाना कासिम साहब उस मदरसे को क्रायम करने में कामयाब हो सके थे। मदरसे के सबसे पहले विद्यार्थी भी मौलाना महमूदुल हसन साहब ही थे। कुछ ही दिनों में मौलाना कासिम साहब ने अपने इस गैर मामूली शागिर्द की छिपी ताकत को पहचान लिया और मज़हबी तालीम के साथ-साथ जमात के असली असूल और उसके मक़सद भी उन्हें समझा दिये। कितनी ही रातों मौलाना महमूदुल हसन साहब ने उस कहानी को सुनने में बिता दी जिसकी एक-एक घटना शहीदों के खून के जिक्र से गूँज रही थी। इस तरह बचपन में ही उनके दिल में मुल्क की आज़ादी की लगन पैदा हो गई और उन्होंने यह ठान लिया कि वह अपनी ज़िन्दगी का एक-एक पल इसी काम में बिताएँगे।

6 जनवरी सन् 1874 को देवबन्द मदरसे के जिन पाँच विद्यार्थियों के सर पर

फ़जीलत की पगड़ी बंधी यानी जिन्हें डिग्रियाँ मिलीं, उनमें एक वह भी थे। इसके बाद उन्होंने मदरसे में ही बिना तनख्वाह पढ़ाना शुरू कर दिया। सन् 1875 में सिर्फ पच्चीस रुपये माहवार पर वह मदरसे के चौथे मुदर्रिस हुए और उन्होंने देवबन्द के विद्यार्थियों में अपना काम शुरू कर दिया।

सन् 1878 में उनके उस्ताद मौलाना कासिम साहब अचानक चल बसे। इसका उन पर गहरा असर हुआ। मौलाना कासिम साहब उनको अपने बेटे की तरह प्यार करते थे। इसके एक साल बाद उन्होंने देवबन्द के कुछ उस्तादों और तालिबइल्मों को मिलाकर 'समरतुल तबियत' के नाम से एक नए संगठन की नींव डाली। खुशकिस्मती से वलीउल्लाही जमात के चौथे इमाम हाजी इमदादुल्ला साहब उस वक्त तक मक्का में ज़िन्दा थे। मौलाना महमूदुल हसन साहब हज के बहाने उनके पास मक्का गये और उनसे अपने प्रोग्राम की बाबत हिदायत हासिल की। इसके बाद मौलाना हिंदुस्तान वापस आ गये।

उस वक्त हिंदुस्तान में फिर एक नई राजकाजी हलचल नज़र आने लगी थी। ब्रिटिश हुकूमत भी उसे मिटा देने के लिये पर्दे की ओट से आए दिन एक नई चाल चल रही थी। हुकूमत को सबसे बड़ी घबराहट यह थी कि आज़ादी की जो लगन अभी तक मुसलमानों में ही जोर पर थी, वह अब हिंदुओं में भी फैलती जा रही थीं। यह लार्ड लिटन का ज़माना था, जिससे ज्यादा तंगनज़र वायसराय कोई दूसरा नहीं हुआ। उसी ज़माने में दक्खिन का वह मशहूर अकाल पड़ा, जिसमें पचास लाख से ज्यादा हिंदुस्तानी मक्खियों की तरह मर गये। लार्ड लिटन पर इसका कुछ भी असर नहीं हुआ। उसने एक तरफ़ तो अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई कर दी और दूसरी तरफ़ दिल्ली में एक शानदार दरबार करने का सरंजाम शुरू कर दिया। भूखों मरते हिन्दुस्तानियों के ज़ख्मों पर यह नमक छिड़कना था। नतीजा यह हुआ कि एक तरफ़ दक्खिन में और दूसरी तरफ़ पंजाब में अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ़ लोग उठ खड़े हुये। यह तहरीकें जल्द ही दबा दी गईं लेकिन यह जाहिर हो गया कि सन् 1857 के बाद भी हिंदुस्तान में कुछ ऐसे लोग हैं जो ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ़ हथियार लेकर खड़े हो सकते हैं।

हुकूमत ने इस जोश को दबाने के लिए एक तरफ़ कौंसिलें क्रायम करके कुछ मामूली से हक़ हिन्दुस्तानियों को दिये तो दूसरी तरफ़ प्रेस एक्ट और हथियार छीनने का कानून बना कर लोगों को दबाना शुरू किया, इसके साथ ही एक

तीसरी चाल फूट डालने की थी, जो पहली दोनों चालों से भी ज्यादा कामयाब रही। मुल्क के कुछ बड़े बड़े समझदार और असर वाले लोग भी हुकूमत के इस जाल में फंस गए, और फंसते रहे और मुल्क की आजादी के उस नन्हे से पौधे को, जिसे एक तरफ़ देवबन्द की जमात और दूसरी तरफ़ दक्खिन, बंगाल व पंजाब में उठती हुयी उमंगे सींच रही थीं, नुकसान पहुँचाते रहे।

मौलाना महमूदल हसन उन हालतों में भी बराबर अपने काम में लगे रहे और 'समरतुल तबियत' के संगठन को मजबूत करने की कोशिश करते रहे, पर वह कोशिश कुछ फल न ला सकी। इसके बाद अपने थोड़े से चुने हुए साथियों के सहारे वह अपने काम में लगे रहे। उस वक्त उनका ख्याल था कि चूँकि हिन्दुस्तानियों से हथियार छीन लिये गये हैं इसलिए जब तक कोई गैर मुल्की हुकूमत हमारी मदद पर न हो तब तक आजादी की जंग शुरू नहीं की जा सकती। इसके लिये उनकी नज़र काबुल पर गई। हिंदुस्तान और अफ़ग़ानिस्तान की हदें मिली होने की वजह से वहीं से मदद मिलना सबसे ज्यादा आसान था। इसके साथ ही हिंदुस्तान की सरहद पर बसे हुए आजाद क़बीलों की मदद हासिल करने का ख़याल भी उनके दिल में उठा, क्योंकि वहीं वलीउल्लाही जमात की वह दूसरी शाख, जो सन् 1824 में सय्यद अहमद बरेलवी के साथ हिंदुस्तान से हिजरत करके सरहद पर चली गयी थी, अभी तक अपना काम कर रही थी। मौलाना महमूदल हसन ने मदरसा देवबन्द के उन तालिबइल्मों के सहारे, जो आजाद क़बीलों से आए थे, अपना ताल्लुक वहीं से क़ायम किया और वह उसमें कामयाब हुए। आजाद क़बीलों के इलाक़े के एक बड़े असर वाले सरदार तुरंगज़ई के हाजी साहब से उनको पुरानी जान-पहचान थी। नतीजा यह हुआ कि सन् 1857 की आजादी की लड़ाई में हाजी इमदादुल्ला साहब आजाद क़बीलों की मदद लेने और वलीउल्लाही जमात की इन दोनों शाखों को मिलाने की जिस कोशिश में नाकामयाब हुये थे, ज़माने की ज़रूरतों से मौलाना महमूदल हसन अब उसमें कामयाब हुए। अब इन आजाद क़बीलों के दूत और आदमी बराबर उनके पास आने लगे।

अफ़ग़ानिस्तान में उस वक्त अमीर हबीबुल्ला का राज था। मौलाना ने फ़ौरन ही उनसे और उनके कुछ बड़े-बड़े सरदारों और भाइयों से लिखा-पढ़ी शुरू की। इन भाइयों में ख़ास शाहजादा नसरुल्ला ख़ाँ थे, जिन्होंने सन 1898 में इंग्लिस्तान जाकर वहाँ की पार्लियामेंट के मेम्बरों और ब्रिटिश सरकार के अफ़सरों से बड़े जोर के साथ कहा था कि अफ़ग़ानिस्तान की हुकूमत में अंग्रेज़ों का जो दखल है वह

फ़ौरन उठा लिया जाय। उनकी बात उस वक्त तक नहीं सुनी गई, जिससे उन्होंने अंग्रेजों की मुखालफ़त में 'जमीय्यते सियासिया' के नाम से अफ़ग़ानिस्तान में एक संगठन बनाना शुरू कर दिया। मौलाना महमूदुल हसन ने इस 'जमीय्यत' से भी अपना सम्बन्ध कायम कर लिया था और उनके कुछ खास अफ़ग़ान शागिर्द उसमें बढ़ कर हिस्सा ले रहे थे।

इसके बाद उन्होंने हिंदुस्तान में अपने संगठन को नए सिरे से मजबूत करने की तरफ़ ध्यान दिया। इस वक्त तक हिंदुस्तानियों के दिलों में अंग्रेजों और अंग्रेजी राज का उतना डर नहीं रह गया था। साथ ही मौलाना महमूदुल हसन को मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी व मौलाना कासिम साहब के धेवते मुहम्मद मियाँ अन्सारी जैसे शागिर्द भी मिल गये थे। मौलाना की सादा और मेहनत को ज़िन्दगी, सचाई और खुदापरस्ती ने काफ़ी असर पैदा कर लिया था और डाक्टर मुखतार अहमद अन्सारी जैसे लोग उनके मुरिद बन चुके थे।

सन् 1909 के आस-पास मौलाना की हिदायतों के मुताबिक़ उनके शागिर्द मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी ने मदरसा देवबन्द में 'जमीयतुल अन्सार' के नाम से एक नया संगठन क़ायम किया, जिसमें देवबन्द के मदरसे से निकले विद्यार्थी शरीक थे। सन् 1910 में देवबन्द के मदरसे का जो शानदार कानबोकेशन हुआ उसमें इस जमात के क़ायम होने का एलान किया गया और अगले साल उसका सालाना जलसा करने का भी एलान हुआ। इसी एलान के मुताबिक़ 'जमीयतुल भन्सार' का पहला जलसा 15, 16 और 19 अप्रैल सन् 1911 ई. को मुरादाबाद में हुआ। जिसमें इस संगठन के असूलों पर रोशनी डालते हुये मौलाना महमूदुल हसन के गुरु भाई मौलाना अहमद हसन मुहद्दिस अमरोही ने अपनी तक्ररीर में कहा था—

“बाज़ नई रोशनी के शैदाई (प्रेमी) कहते हैं कि जमीयतुल अन्सार ओल्ड बायज़ एसोसिएशन की नक़ल है, लेकिन यह बात हरगिज़ सही नहीं। जमीयतुल अन्सार की तहरीक अब से तीस बरस पहले शुरू हो गई थी, और उस तहरीक के बानी मदरसे आलिया के वह तालिबइल्म<sup>1</sup> थे जो आज उलूम (इल्मों) के सर चश्मा (दरिया) हैं और आफ़ताबे फ़नून (हुनर के सूरज) हैं और जिनकी जात वा बरकात (बरकत वाली जात) पर आज ज़माना जिस क़दर नाज़ करे थोड़ा है। लेकिन यह तहरीक उस वक्त ज़माने की ज़रूरतों से मुताल्लिक़ न थी, इसलिये रुक

1.— छात्र

गई और आखिर इस कुल्लिये (असूल) की बिना पर कि अंजुमन को दुबारा जिन्दा करके 'जमीयतुल अन्सार' नाम रखा गया। जमीयतुल अन्सार हरगिज़ किसी अंजुमन की नक़ल नहीं है और न किसी जाती मक़सद (निजी फ़ायदे) से बहैसियत दुनियावी इसका ताल्लुक है, बल्कि इसके मक़सद वह ज़रूरी मक़सद हैं, जिनकी आज-कल बहुत ज़रूरत है।'

इस हवाले से जाहिर है कि जमीयतुल अन्सार 'समरतुल तबियत' का ही दूसरा रूप थी।

एक तरफ़ मौलाना महमूदुल हसन अपने संगठन को मज़बूत बनाते जा रहे थे, दूसरी तरफ़ हुकूमत भी खामोश नहीं बैठी थी, मदरसे के चलाने वालों ने अंग्रेज़ सरकार से रुपये की मदद लेने से बार-बार इनकार किया था। मदरसे के बानी मौलाना कासिम साहब व उनके साथियों की जिन्दगी के हालात सरकार को मालूम थे। हुकूमत के दिल में काफ़ी डर पैदा हो चुका था। सन् 1910 में साहबजादा आफ़ताब अहमद ख़ाँ की तजवीज़ पर मदरसा देवबन्द की इन्तज़ामिया कमेटी ने यह तय किया कि हर साल मदरसा देवबन्द के कुछ तालिबइल्म अंग्रेज़ी पढ़ने के लिये अलीगढ़ कॉलेज जाएँ और अलीगढ़ कॉलेज के कुछ तालिबइल्म अरबी की तालीम के लिये मदरसा देवबन्द भेजे जाएँ, इस तजवीज़ के मुताबिक़ अलीगढ़ कॉलेज के विद्यार्थियों का पहला जल्था देवबन्द आया। उसी के एक विद्यार्थी अनीस अहमद को सरकार ने अपनी तरफ़ फोड़ लिया। वह मौलाना महमूदुल हसन की तमाम हलचलों की रिपोर्ट हुकूमत तक पहुँचाने लगा।

उन दिनों मौलाना और उनके साथियों की खास बैठकें एक तहखाने में हुआ करती थीं, जिसमें सरहद व काबुल से आये हुये वह लोग भी, जो मौलाना के मिशन में शरीक थे, शामिल हुआ करते थे। अनीस अहमद को उस तहखाने की बैठकों का हाल तो नहीं मालूम होता था, लेकिन वह उन आने-जाने वालों के फ़ोटो लेकर हुकूमत तक पहुँचाता रहता था। नतीजा यह हुआ कि हुकूमत को हालाँकि मौलाना के असली भेद नहीं मालूम हो सके फिर भी वह इतना तो जान ही गई कि मौलाना कोई एक बहुत बड़ी साज़िश अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ खड़ी कर रहे हैं।

कुछ दिन बाद ही तुरंगज़ई के हाजी साहब ने सरहद पर मदरसे कायम करने शुरू किये। बलीउल्लाही जमात का अपने असूलों के प्रचार के लिये ऐसे मदरसों का

कायम करना एक पुराना तरीका था। तुरंगज़ई के हाजी साहब को अपने इस काम में अपने गाँव के पास में ही एक सच्चे और मेहनती नौजवान की मदद भी हासिल हो गई, जो बाद में बहुत मशहूर सियासी लीडर हुआ। यह नौजवान खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खाँ साहब थे, जो आज सरहदी गांधी के नाम से मशहूर हैं, लेकिन इस बात को इने-गिने लोग ही जानते हैं कि उनको सियासत के मैदान में खींचने वाले वलीउल्लाही जमात के ही एक मेम्बर तुरंगज़ई के हाजी साहब थे।

सरकार ने फ़ौरन सरहदी के यह मदरसे जबरन बन्द कर दिये और हाजी साहब पर कुछ पाबन्दियाँ लगाने या उनको कैद करने की भी कोशिश की। इस पर मौलाना की हिदायत के मुताबिक हाजी साहब आज़ाद क़बीलों में चले गये। उन्होंने वहाँ पठानों का संगठन शुरू कर दिया। कुछ दिन बाद मौलाना महमूदुल हसन ने मदरसा देवबन्द के एक पुराने विद्यार्थी मौलाना सैफ़ुर्रहमान को आज़ाद क़बीलों में संगठन के लिये तुरंगज़ई के हाजी साहब के पास भेजा। मौलाना सैफ़ुर्रहमान पेशावर के नजदीक के ही रहने वाले थे और मदरसा देवबन्द में उन्होंने तालीम पाई थी। कुछ दिन टोंक में पढ़ाकर वह दिल्ली में फतेहपुरी मदरसे के हेड मास्टर हो गये थे। तुरंगज़ई के हाजी साहब के पास पहुँच कर उन्होंने पठानों का काफ़ी संगठन किया। इसके बाद वह इसी काम से काबुल चले गये, पर बाद में सरकारी दबाव और चालों ने उन्हें इस सही, पर खतरनाक रास्ते से अलग कर दिया।

मौलाना महमूदुल हसन का प्रोग्राम यह था कि काबुल से लेकर हिंदुस्तान के ठेठ दूसरे कोने तक एक संगठन फैल जाय। वह संगठन जब पूरा हो जाय तो काबुल और आज़ाद क़बीलों की एक फ़ौज हिंदुस्तान पर हमला करे, मुल्क के भीतर का संगठन उस वक्त मुल्क के भीतर से लड़ाई छेड़ दे और इस तरह अंग्रेज़ी हुकूमत को उखाड़ फेंका जाय।

कुछ दिनों बाद जब टर्की और बलकान रियासतों में लड़ाई छिड़ी, तो मौलाना और उनकी पार्टी ने टर्की की मदद करने का फैसला किया। इसी फैसले के मुताबिक़ डाक्टर अन्सारी साहब एक डाक्टरी मिशन लेकर तुर्की गये। इसके कुछ दिन बाद सन् 1914 में यूरोपियन जंग का एलान हो गया। मौलाना ने फ़ौरन तय कर लिया कि ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ़ हथियार उठाने का यह सबसे अच्छा मौक़ा है। उन्होंने इसके लिये अपने संगठन की कड़ियाँ और भी मजबूत करनी शुरू कर दी। इस वक्त तक वह दिल्ली में भी 'नज़ारुतुल मआरिफ़' के नाम से एक



मदरसा कायम कर चुके थे, जो दरअसल वलीउल्लाही जमात के क्रान्तिकारी संगठन को एक शाख थी। इस मदरसे का तमाम बोझ मौलाना महमूदुल हसन के खास शागिर्द और उनकी सियासत के राज़दौं मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी पर था और मदरसे की मदद डाक्टर अन्सारी, हकीम अजमल ख़ाँ वगैरह भी करते रहते थे, जो मौलाना के मुरीद और उनके दोस्तों में से थे।

इसी ज़माने में हिंदुस्तान के एक दूसरे मौलवी अब्दुल हक़ हक़ान्नी ने यह फ़तवा दिया कि तुर्की के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों की मदद करना जायज़ है। इस फ़तवे पर कुछ और मौलवियों के भी दस्तख़त थे। कुछ दिन बाद यह फ़तवा दस्तख़तों के लिये मौलाना महमूदुल हसन साहब के सामने पेश किया गया। मौलाना महमूदुल हसन ठंडे मिज़ाज के थे और अपने सियासी ख़याल सिवा अपने खास शागिर्दों के आम तौर पर जाहिर नहीं किया करते थे, लेकिन जब यह फ़तवा एक आम जलसे में उनके सामने पेश किया गया, तो उन्होंने अपने मिज़ाज के ख़िलाफ़ बड़े सख़्त लफ़ज़ों में उस फ़तवे की बुराई की और उसे उठाकर फेंक दिया। उस ज़माने में यह एक आम अफ़वाह फैलाई गई थी कि अंग्रेज़ हकूमत हिंदुस्तान में अपनी ज़रा भी मुख़ालफ़त<sup>1</sup> बर्दाश्त नहीं करेगी और जो भी उसके रास्ते में आवेगा उसे पूरी तरह कुचल देगी। मौलाना जानते थे कि इस फ़तवे के बारे में चुप रहना हुकूमत की धमकी को मंज़ूर कर लेना और तमाम मुल्क के सामने उर की एक बुरी मिसाल खड़ी कर देना है, इसलिए उन्होंने तमाम खतरों को पहचानते हुए भी उसके बारे में सख़्त रवैय्या अख़्तियार<sup>2</sup> किया। उनके इस बरताव से उनके साथियों में बड़ी सनसनी फैल गई और लोग यह उम्मीद करने लगे कि मौलाना फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिये जावेंगे, लेकिन उस वक्त हुकूमत की हिम्मत उन पर हाथ डालने की न हुई। हालाँकि इसके बाद मौलाना को हुकूमत के हाथों इस से बीसियों गुना ज्यादा तकलीफें उठानी पड़ी।

अगस्त सन् 1915 में मौलाना ने अपने खास शागिर्द उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल भेजा। उबेदुल्ला सिन्धी ने लिखा है कि मौलाना ने जब उनको काबुल जाने का हुक्म दिया, तब कोई खास प्रोग्राम उन्हें नहीं दिया। काबुल पहुँच कर उनको मालूम हुआ कि मौलाना ने पिछले बीसियों बरसों से वहाँ मैदान तैयार कर लिया था। जब उबेदुल्ला सिन्धी जनरल नादिर ख़ाँ से मिले तब उनको यह देखकर बहत

1.— विरोध, 2.— अपनाया

हैरत हुई कि जनरल नादिर खाँ उनकी बाबत पहले से बहुत कुछ जानते थे। इसके बाद काबुल में इस जमात के कारकुनों ने जो कुछ किया, उसकी एक कहानी है। थोड़े से में यह कहा जा सकता है कि काबुल के तख्त से अंग्रेजों के हिमायती अमीर हबीबुल्ला को हटा कर उनकी जगह अंग्रेजों के सख्त मुखालिफ़ अमानुल्ला खाँ को बैठाने और अंग्रेजों के पंजे से अफ़ग़ानिस्तान को आज़ाद कराने में बहुत बड़ा हाथ मौलाना महमूदुल हसन सामना और उनके शागिर्दों का था। यह एक ऐसी बात है, जिसे लोग बढ़ाकर कही हुई समझ सकते हैं, लेकिन अब जमाना आ गया है कि इसके पूरे सबूत भी पेश किये जा सकते हैं।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल भेजने के एक महीने बाद 18 सितम्बर 1915 को मौलाना महमूदुल हसन साहब भी अपने कुछ खास शागिर्दों के साथ हज के बहाने मक्का चल दिये। हुकूमत को अपने जासूस अनीस अहमद के ज़रिये मौलाना की इन हलचलों की बात मालूम होती रहती थीं। मौलाना को हिंदुस्तान से बाहर जाते देखकर हुकूमत का माथा ठनका। मौलाना के बम्बई पहुँचते-पहुँचते वहाँ के अफसरों को मौलाना की गिरफ्तारी का हुक्म भेजा गया। हुक्म कुछ देर से पहुँचा। वह उस वक्त मिला जब बीसियों हज़ार मुसलमान समन्दर के किनारे खड़े अपने इस इमाम को बिदा कर रहे थे। इसके बाद जहाज़ के कप्तान को मौलाना की गिरफ्तारी का हुक्म दे दिया गया। वह भी किसी वजह से अमल में न आ सका। नतीजा यह हुआ कि मौलाना मय अपने साथियों के हेजाज़ पहुँच गए। वहाँ वह हेजाज़ के गवर्नर ग़ालिब पाशा से मिले और उनसे आज़ाद क़बीलों के लिये एक खत हासिल किया, जिसमें तुर्की सरकार को मौलाना का मददगार बताया गया और क़बीलों से यह अपील की गई थी कि वह अंग्रेजों के खिलाफ़ संगठित होकर लड़ाई छेड़ दें। रौलट कमेटी की रिपोर्ट में इस खत का जिक्र 'ग़ालिब नामा' के नाम से किया गया है।

ग़ालिब पाशा के इस खत को मौलाना के एक खास शागिर्द मुहम्मद मियाँ अन्सारी लेकर चले और हिंदुस्तान होते हुये आज़ाद क़बीलों में वह खत पहुँचा कर काबुल पहुँच गये। इसके बाद मौलाना मक्का और मदीना पहुँचे। वहीं मौलाना महमूदुल हसन साहब के एक दूसरे शागिर्द मौलाना हुसैन अहमद साहब पहले से रह रहे थे। मौलाना को हुसैन अहमद साहब से काफी मदद मिली।

मदीने में मौलाना ने तुर्की हुकूमत के जंगी वज़ीर अनवर पाशा और एक दूसरे

फ़ौजी अफ़सर जमाल पाशा से मुलाक़ात की। अनवर पाशा मौलाना की बाबत पहले से सुन चुके थे। उन्होंने मौलाना को पूरी मदद देने का वादा किया। साथ ही यह भी—कहा कि “असली मदद तो आपके मुल्क के ही लोग दे सकते हैं और इसके लिए जरूरी यह है कि आप ग़ैर मुसलमानों को भी अपने साथ लें।” अनवर पाशा की इन बातों का मौलाना पर गहरा असर पड़ा। उन्होंने काबुल में काम करने वाले अपने साथियों को यह सन्देशा भेजा कि वह ग़ैर मुसलमानों को ख़ास तरीके पर तहरीक में शरीक करें और उनको जिम्मेदारी की जगहें देकर यह इत्मीनान दिलाने की कोशिश करें कि इस तहरीक का मतलब सिर्फ़ मुल्क की आज़ादी है, न कि हिंदुस्तान पर फिर से मुसलमानों की हुकूमत कायम करना। इस संदेश के मुताबिक राजा महेन्द्र प्रताप को हिंदुस्तान की उस आरज़ी सरकार का प्रेसीडेन्ट बनाया गया जो काबुल में मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी वगैरह ने कायम की थी। वह इस तरह की पहली सरकार थी, जिस की याद नेता जी सुभाषचन्द्र बोस ने, जापान, स्याम और बर्मा में आज़ाद हिन्द सरकार कायम करके बीसियों बरस बाद, फिर से ताज़ा कर दी।

इसी वक्त अनवर पाशा की सलाह से यह भी तय हुआ कि मौलाना महमूदुल हसन साहब खुद भी आज़ाद कबीलों में पहुँचें। इसका इन्तज़ाम हो ही रहा था कि मक्का का हाकिम शरीफ़ हुसैन अंग्रेज़ों से मिल गया। उसने तुर्की हुकूमत के ख़िलाफ़ बगावत का झंडा खड़ा कर दिया। मौलाना इसका नतीजा जानते थे। उन्होंने मक्का से निकल जाने की काफी कोशिश की, पर नाकाम रहे और मय अपने साथियों के 17 सितम्बर 1916 को गिरफ़्तार कर लिये गये। इसके बाद करीब चार साल तक वह माल्टा के फ़ौजी कैदखाने में नजरबन्द रखे गए। इस चार साल में उनको व उनके साथियों को जो सख्त तकलीफ़ उठानी पड़ी, उनको बयान करने के लिये कई मोटी-मोटी जिल्दें भी नाकाफ़ी होंगी। शुरू में तो सभी को यक़ीन था कि फाँसी दे दी जायगी और इसी यक़ीन के मुताबिक़ मौलाना के एक साथी अज़ीज़ गुल साहब सरहदी अपनो गर्दन दबा-दबा कर देखा करते थे कि फाँसी के वक्त कितनी तकलीफ़ होती है। बाद में हुकूमत ने किसी मसलहत से फाँसी तो न दी, पर वह चार साल की नजरबन्दी फाँसी से ज्यादा तकलीफ़ की थी। मौलाना और उनके साथियों ने खुशी-खुशी यह सब सहा और कभी अपने माथे पर शिकन भी नहीं आने दी। मौलाना के एक साथी हकीम नसरत हुसैन साहब का तो माल्टा में ही इन्तकाल भी गया। आज भी माल्टा में मुल्क के इस देशभक्त सपूत की क़ब्र एक सुनसान जगह में ‘नै चिरागे नै गुले’ बनी हुई है।

मई सन् 1920 के आखिरी हफ्ते में मौलाना महमूदुल हसन साहब इस नजरबन्दी से रिहा होकर अपने साथियों के साथ बम्बई पहुँचे। उस वक्त तक खिलाफत की तहरीक शुरू हो चुकी थी। हुकूमत को डर था कि मौलाना भी आकर कहीं इसमें शरीक न हो जायँ, इसलिये जहाज़ पर ही खुफ़िया पुलिस के कुछ अफ़सर और एक कोई मौलवी रहीम बख़्श साहब मौलाना से मिले और उनको यह समझाने की कोशिश की कि वह बम्बई के किसी इस्तकबालिया जुलूस में शरीक न हों और न खिलाफत से अपना कोई सम्बन्ध दिखावे, बल्कि चुपचाप देवबन्द चले जाएँ।

मौलाना ने इन लोगों को कोई जवाब नहीं दिया। उनको खुद जुलूस बौरह में शरीक होना अच्छा नहीं लगता था। इस मशविरे में जो इशारा था, उसकी वजह से उन्होंने खिलाफत कमेटी को अपना स्वागत करने की इजाजत दे दी। इसके बाद तो देवबन्द तक हर स्टेशन पर उनका शाही इस्तकबाल<sup>1</sup> हुआ। इस तरह उन्होंने हुकूमत को यह जता दिया कि चार साल की नजरबन्दी की तकलीफें उनकी सेहत और जिस्म पर भले ही कितना भी असर डाल सकी हों, पर उनकी उमंगों पर उनका कोई असर नहीं है। मुल्क की आज़ादी की आग अब भी उसी तरह उनके दिल में धधक रही है।

देवबन्द आकर मौलाना महमूदुल हसन साहब ने अपने तमाम खास साथियों को इकट्ठा करके हुकूमत के खिलाफ लड़ने का एक प्रोग्राम उनके सामने रखा। इसके साथ ही उन्होंने यह भी अपने साथियों से पूछा कि अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ उनके दिल में जो नफ़रत है, वह सिर्फ़ इस वजह से तो नहीं है कि जाती तौर पर उनको इनके ज़रिए तकलीफ़ उठानी पड़ी हैं। यह बात साबित करती है कि मौलाना खुद अपनी बाबत भी कितनी गहराई के साथ सोचा करते थे।

मौलाना महमूदुल हसन ने यह नया प्रोग्राम ऐसा बनाया था, जिसमें आम जनता हिस्सा ले सके। वह अब तक यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि सिर्फ़ सियासी साज़िशों से आज़ादी की लड़ाई आगे नहीं बढ़ सकती। इसी सच्चाई को हिंदुस्तान के दूसरे क्रान्तिकारियों ने सन् 1935-36 के बाद समझा और वह भी बम पिस्तौलों का सहारा छोड़ कर जनता यानी किसान मजदूरों का संगठन करने लगे। मौलाना महमूदुल हसन ने इस सच्चाई को पन्द्रह बरस पहले समझ लिया था। यह उनकी दूरन्देशी की एक दूसरी मिसाल है।

---

1.— स्वागत

नज़रबन्दी के इन चार बरसों में मौलाना की सेहत बिल्कुल गिर गई थी। गठिया का दर्द उनको दिन रात परेशान करता था, साथ ही दम-दम पर पेशाब जाने का रोग भी पैदा हो गया था। डाक्टरों की राय थी कि मौलाना आराम करें, लेकिन मौलाना को पल के लिए भी चैन नहीं था। वह दिन रात घूमते रहते थे। इसके कुछ दिन पहले 'जमीयतुल उलमा' के नाम से एक जमात क्रायम की जा चुकी थी, जो मुल्क की आज़ादी के लिए एक खुला प्रोग्राम जनता के सामने रखने का मिशन लेकर शुरू हुई थी। मौलाना ने इस खयाल को बहुत पसन्द किया। वह दिन रात उसके संगठन को मजबूत करने की कोशिश में जुटे रहने लगे। इस मेहनत का नतीजा यह हुआ कि उनको तपेदिक्र हो गया। डॉक्टरों ने फिर यह बतलाया कि मौलाना का जिस्म थोड़ी सी भी मेहनत बर्दाश्त नहीं कर सकता, लेकिन मौलाना को एक पल भी बेकार खोना गवारा नहीं था। दिन रात बुखार में भुनते हुये वह तजवीज़ों के मसविदे लिखने व साथियों को हिदायतें देने में जुटे रहते थे।

इसी ज़माने में अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के कुछ आज़ाद खयाल विद्यार्थियों ने उनसे अपने जलसे की सदारत करने की दरखास्त की। मौलाना इस वक्त हिलने डुलने से भी मजबूर थे। डोली में लेट कर वह स्टेशन पहुँचे। इसी हालत में अलीगढ़ तक का सफ़र किया। वहाँ पहुँच कर 26 अक्टूबर सन् 1920 को जलसे की सदारत की। यह उनकी आखिरी तक्ररी थी, जिसमें मुल्क की आज़ादी के लिए सब कुछ दाँव पर लगा देने की अपील उन्होंने बड़े पुरदर्द लफ़्ज़ों में की थी। यह जलसा अलीगढ़ कॉलेज के उन विद्यार्थियों का था, जिन्होंने ख़िलाफ़त तहरीक के प्रोग्राम के मुताबिक़ अलीगढ़ यूनिवर्सिटी इसलिए छोड़ दी थी, क्योंकि वह सरकारी मदद पर चलती थी। उसी वक्त मौलाना महमूदुल हसन साहब के हाथों से 'जामिया मिल्लिया इस्लामिया' मदरसे की भी नींव रखी गई जो आज भी मदरसा देवबन्द की तरह दिल्ली में क़ौमी तालीम का एक खास मरकज़ है। इसके ठीक एक महीने बाद 30 अक्टूबर सन् 1920 ई. को दिल्ली में डाक्टर अन्सारी साहब की कोठी पर मौलाना महमूदुल हसन साहब का इन्तकाल हुआ। कहा जाता है कि मरने से कुछ घंटे पहले ही आज़ाद क़बीलों के इलाक़े से आए हुए कुछ आदमियों को उन्होंने हिदायतें दी थीं और चूँकि सुनने और बोलने की ताकत उस वक्त बहुत कम हो गयी थी, इसलिये मौलाना के मुँह पर कान रख कर सरहद के उन पठानों ने मौलाना की यह आखिरी बातें सुनी थीं।

मौलाना महमूदुल हसन साहब ने अपनी इमामत के ज़माने में पिछले दो सौ बरस से चली आ रही वेलीउल्लाही तहरीक में दो खास नई बातें की, पहली यह कि उन्होंने गैर मुसलमानों को शरीक करके इस तहरीक को सच्चे मानों में तमाम हिंदुस्तान की तहरीक बना दिया और दूसरी यह कि इसमें आम जनता को शरीक करके वह उसे एक नया रास्ता दिखा गए।

## मौलाना अबेदुल्ला सिन्धी

वलीउल्लाही जमात के छठे इमाम मौलाना महमूदुल हसन साहब के उन साथियों और शागिर्दों में, जिन्होंने मुल्क की आज़ादी की लड़ाई में निहायत दिलेरी के साथ हिस्सा लिया, मौलाना अबेदुल्ला सिन्धी का नाम हमेशा बड़ी इज़्ज़त के साथ लिया जायगा। मौलाना अबेदुल्ला सिन्धी को अपनी ज़िन्दगी का बहुत बड़ा हिस्सा ज़िलावतनी की दिल कँपा देने वाली मुशकिलों में बिताना पड़ा।

मौलाना अबेदुल्ला सिन्धी का जन्म 10 मार्च सन् 1871 ई. को मियांवाली (पंजाब) के एक हिंदू से सिख बने हुए खानदान में हुआ था। उनके बाप का नाम रामसिंह था, जो सुनारगिरी और साहूकारी का पेशा करते थे और अपने बेटे के जन्म से चार महीना पहले ही चल बसे थे। नतीजा यह हुआ कि अबेदुल्ला साहब को अपने बाप की मुहब्बत न मिल सकी, लेकिन उनके बाबा जसपतराम जी उनके पैदा होने के करीब दो साल बाद तक ज़िन्दा रहे। इसके बाद अबेदुल्ला साहब की माँ अपनी गृहस्थी के साथ मायके आ गयीं। कुछ अरसे के बाद वह अपने भाई के साथ जयपुर जिला डेरा गाज़ीखाँ चली गयीं और वहाँ रहने लगीं। यहीं पर मौलाना ने शुरू की तालीम पाई और यहीं पर सन् 1887 में अपने एक आर्यसमाजी दोस्त के ज़रिये मिली हुई एक किताब 'तोहफतुल हिंद' के असर में आकर उन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया और घर छोड़कर सिन्ध जा पहुँचे। इस वक्त मौलाना की उमर सिर्फ 16 साल की थी।

सिन्ध पहुँच कर मौलाना ने कुछ दिनों तक इस्लामी फ़लसफ़े की शुरू की किताबें पढ़ीं जिनकी तरफ़ उनका खास झुकाव था। इसके बाद सक्खर इस्लामिया स्कूल

के हेडमास्टर मुहम्मद अजीम खाँ युसुफ़ज़ई की लड़की के साथ उनकी शादी हो गई। मौलाना ने इस के बाद सक्खर में ही रहने का इरादा कर लिया और इसकी खबर अपनी माँ को भी दे दी। माँ जो अपने बेटे के वियोग में बेहाल हो रही थीं, यह खबर मिलते ही सक्खर पहुँचीं। पर उनको यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि उनके बेटे ने इस्लाम क़बूल कर लिया है। फिर भी बेटे को मुहब्बत की वजह से वह उससे दूर रहने को तैयार नहीं थीं। इसी तरह मौलाना के दिल में भी अपनी माँ के लिए इज़्जत और मुहब्बत थी, लेकिन जिस चीज़ को वह ठीक समझते थे उसे किसी दुनियावी मुहब्बत के लिए छोड़ देना भी वह गवारा नहीं कर सकते थे। इतना होने पर भी उन्होंने कभी अपनी माँ को, जो सिर्फ़ उनके ही आसरे पर थीं, मुसलमान बनाने की कोशिश नहीं की। यही वजह है कि उनकी माँ अपने मज़हब पर कायम रहते हुए भी बराबर उनके साथ रह सकी। इससे जाहिर होता है कि मौलाना ने हालाँकि अपने मज़हब को बदला था, लेकिन वह ग़ैर ज़रूरी मज़हबी जोश उनमें बिलकुल ही नहीं था जो अकसर एक मज़हब से दूसरे मज़हब में जाने वालों में पाया जाता है।

सिन्ध में रहते हुए मौलाना के हाथ कुछ किताबें लगी जो वलीउल्लाही जमात के दूसरे इमाम शाह अब्दुल अज़ीज़ के भतीजे शाह इस्माईल शहीद की लिखी हुई थीं। इन किताबों के जरिये मौलाना को सबसे पहिले वलीउल्लाही जमात के उसूलों की जानकारी हुई और वह इसके बाबत कुछ ज्यादा मालूम करने के लिए बेचैन हो उठे। इसी सिलसिले में सिन्ध के कुछ ऐसे लोगों से भी उनकी जानकारी हुई जो वलीउल्लाही जमात से ताल्लुक रखते हुए हिंदुस्तान से ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकने को तैयारी कर रहे थे। मौलाना ने भी उनके काम में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया और जब उन लोगों को यह पक्का यक़ीन हो गया कि मौलाना हर तरह से एतबार के क़ाबिल हैं और उनके दिल में मुल्क की आज़ादी के लिए सच्ची तड़प है, तो उनको यह भेद भी बता दिया कि इस तमाम संगठन के सबसे बड़े मौजूदा नेता देवबन्द मद्रसे के हेड मास्टर मौलाना महमूदुलहसन साहब हैं। इतना मालूम होते ही मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी देवबन्द जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने मौलाना महमूदुलहसन साहब से पढ़ना शुरू कर दिया और कुछ दिन बाद ही उन्होंने मौलाना महमूदुलहसन साहब का इतना यक़ीन हासिल कर लिया कि यह उनकी गुप चुप होने वाली सियासी मजलिसों में भी शरीक होने लगे।

इस वक्त मौलाना महमूदुलहसन साहब के सामने एक खास काम मद्रसा देवबन्द के



विद्यार्थियों में देशभक्ति का प्रचार करना था जिससे आज़ादी की लड़ाई के लिए उनमें से रंगरूट मिल सके। इस काम के लिए उनकी सलाह से मदरसा देवबन्द के विद्यार्थियों का एक संगठन मौलाना उबेदुल्ला ने बनाया, जिसका नाम 'जमीयतुल अन्सार' रखा गया। मौलाना उबेदुल्ला खुद इसके जनरल सेक्रेटरी बने। लेकिन इस वक्त तक मदरसा देवबन्द में कुछ ऐसे लोग भी घुस आये थे जिनको ब्रिटिश हुकूमत की मुखालफत का नाम सुनते ही कंपकंपी आने लगती थी। ऐसे लोगों को मौलाना उबेदुल्ला साहब का देवबन्द के मदरसे में रहना खटका और उन्होंने उन पर तरह-तरह के इलज़ाम लगाने शुरू कर दिये। बदकिस्मती से उस वक्त इन इलज़ाम लगाने वालों में कुछ ऐसे लोग भी शरीक हो गये थे, जिनको मौलाना उबेदुल्ला बहुत इज्जत की निगाह से देखते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि मौलाना उबेदुल्ला का मन देवबन्द से ऊबने लगा और वह सिन्ध वापस जाने की सोचने लगे। लेकिन मौलाना महमूदुलहसन साहब अपने इस शागिर्द की गैर मामूली सचाई और दिमागी ताक़त से वाकिफ़ हो चुके थे, इसलिए उन्होंने समझा बुझा कर मौलाना उबेदुल्ला को देहली भेज दिया, जहाँ वह 'नज़ारतुल मआरिफ़' के नाम से एक मदरसा चलाने लगे। इस मदरसे का ज़रूरी इन्तजाम करने के लिये खुद मौलाना महमूदुलहसन साहब देहली पहुँचे और हकीम अजमल खाँ साहब व डॉक्टर अन्सारी साहब वगैरा अपने खास-खास दोस्तों से मौलाना उबेदुल्ला की जान पहचान करा कर उनसे यह वादा ले गये कि वह वक्त ज़रूरत मदरसे की मदद करते रहेंगे।

जैसा कि रौलट कमेटी की रिपोर्ट में भी ज़िक्र है, देहली आने के बाद भी मौलाना उबेदुल्ला मौलाना महमूदुलहसन साहब से मिलने के लिये बराबर देवबन्द आते जाते रहे। इसी बीच मौलाना उबेदुल्ला ने दिल्ली में एक इनक़लाबी पार्टी खड़ी कर ली थी जिसका मक़सद हथियारों के जरिये अंग्रेज़ों को हिंदुस्तान से बाहर निकाल देना था। यह सन् 1913 का ज़माना था और हिंदुस्तान के दूसरे हिस्से में भी, खासकर बंगाल और पंजाब में, इसी तरह के और भी बहुत से संगठन कायम हो चुके थे। मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी ने इन संगठनों से भी अपना तात्क़िक कायम करने की कोशिश की जिसका ज़िक्र हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े क्रान्तिकारी शचीन्द्रनाथ सान्याल ने अपनी किताब 'बन्दी जीवन' में किया है।

इसके कुछ दिन बाद ही यूरोप में लड़ाई के नगाड़े गनगना उठे। मौलाना महमूदुलहसन साहब ने इस मौके से फायदा उठाना चाहा और मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल जाने के लिये कहा। मौलाना महमूदुलहसन साहब की आदत

थी कि वह मजदीक से नज़दीक के आदमी को भी सिर्फ़ उतनी ही बातें बताते थे जितनी ज़रूरी होती थीं। इस वजह से मौलाना उबेदुल्ला नहीं जानते थे कि काबुल में मौलाना महमूदुलहसन साहब का कितना असर है। इधर वह देहली में काफ़ी काम कर चुके थे, इसलिये उनकी राय काबुल जाने की नहीं थी। इसी वजह से जब एक दिन मौलाना महमूदुलहसन साहब ने अकस्मात ही मौलाना उबेदुल्ला से कहा—‘उबेदुल्ला ! काबुल जाओ।’ तो उबेदुल्ला साहब ने कुछ हैरानी से पूछा—‘क्यों?’ मौलाना महमूदुलहसन साहब ने इसका कुछ जबाब न दिया और खामोश हो गए। दूसरे दिन भी उन्होंने मौलाना उबेदुल्ला से इसी तरह कहा और मौलाना के काबुल जाने की वजह पूछने पर खामोश हो गए। लेकिन उनकी आँखों में थोड़ी सी नाराजी की झलक उबेदुल्ला साहब को महसूस हुई। इससे मौलाना उबेदुल्ला को बड़ा धक्का लगा और वह यह इन्तजार करने लगे कि उनको फिर काबुल जाने का हुक्म मिले और वह उसकी तामील कर सकें।

दो चार दिन बाद ही मौलाना महमूदुल हसन साहब ने मौलाना उबेदुल्ला से फिर कहा—‘उबेदुल्ला! काबुल जाओ।’ उबेदुल्ला साहब ने यह सुनते ही ‘हाँ’ कर दी और काबुल जाने की तैयारियां शुरू कर दी। उस वक्त उनके पास इतना पैसा नहीं था कि इस सफ़र का इन्तज़ाम कर सकें, लेकिन इसका ज़िक्र मौलाना महमूदुलहसन साहब से करना उनको अच्छा न लगा। आख़िर उनके एक शागिर्द शेख अब्दुल रहीम (आचार्य कृपलानी के बड़े भाई) ने अपनी बीवी के जेवर बेच कर इस सफ़र का खर्च जुटाया और मौलाना उबेदुल्ला अपने तीन साथियों को लेकर अगस्त 1915 में हिंदुस्तान की सरहद पार करके काबुल की तरफ़ चल पड़े। रास्ते में बहुत सी दिक्कतों का सामना करते हुए 15 अक्टूबर सन् 1915 को मौलाना काबुल में दाखिल हो गए। इस वक्त उनके पास खर्च के लिये सिर्फ़ एक पौंड बचा था और उनको इतना भी मालूम नहीं था कि आख़िर इस बेगाने मुल्क में उनको क्यों भेजा गया है। अपनी इस हालत का जिक्र करते हुए अपनी डायरी में उन्होंने एक जगह लिखा है—“सन् 1915 में शेखुल हिन्द के हुक्म से काबुल गया। मुझे कोई मुफ़रिसल प्रोग्राम नहीं बताया गया था, लेकिन तामील हुक्म के लिये जाना ज़रूरी था। खुदा ने अपने फ़ज़ल से निकलने का रास्ता साफ़ कर दिया और मैं अफ़ग़ानिस्तान पहुँच गया। दिल्ली की सियासी जमात को जब मैंने यह बताया कि मेरा काबुल जाना तय हो चुका है तो उसने भी अपना नुमाइन्दा मुझे बना लिया लेकिन कोई माकूल प्रोग्राम वह भी मुझे नहीं बता सका।” इन लफ़्ज़ों से जाहिर होता है कि मौलाना उबेदुल्ला साहब डिसिप्लिन की पाबन्दी का कितना ख़याल रखते थे।

काबुल पहुँच कर भी मौलाना उबेदुल्ला साहब को बड़ी-बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ी। शुरू-शुरू में तो उनको काबुल सरकार ने नज़रबन्द करके जेल में बन्द कर दिया, जहाँ कुछ और भी हिंदुस्तानी, जो इसी मक़सद से काबुल आये थे, बन्द थे। इसके बाद जर्मन टर्किश मिशन के साथ राजा महेन्द्र प्रताप काबुल पहुँचे। तब उन तमाम हिंदुस्तानियों के साथ मौलाना उबेदुल्ला को भी रिहाई मिली। रिहा होने के बाद मौलाना उबेदुल्ला जनरल नादिर खाँ से मिले जिनको मौलाना उबेदुल्ला के मिशन की खबर पहले ही लग चुकी थी। जनरल नादिर खाँ ने मौलाना को हर तरह की मदद देने का वादा किया। इसके बाद ही काबुल में आरज़ी आज़ाद हिन्द सरकार बनाई गई और मौलाना उबेदुल्ला को उसमें होम मेम्बर का ओहदा दिया गया। इसके अलावा हिंदुस्तान की आज़ादी के लिये लड़ने वालों की जो फ़ौज काबुल में खड़ी की जाने वाली थी, उसका जनरल भी मौलाना उबेदुल्ला साहब को ही बनाया गया। हिंदुस्तान में भी 'खुदाई फ़ौज' के नाम से एक फ़ौज का संगठन करना तय हुआ, जिसके सबसे बड़े कमाण्डर मौलाना महमूदुल हसन साहब चुने गए।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी ने इन तमाम फैसलों की खबर मौलाना महमूदुलहसन साहब तक पहुँचाना ज़रूरी समझा। मौलाना महमूदुल हसन साहब इस वक्त मक़े में थे। मौलाना उबेदुल्ला साहब ने पीले रेशम पर उनके लिये एक खत लिखवाया, जो इस कारीगरी से लिखा गया था कि देखने में तो वह फूल से मालूम होते थे, लेकिन दरअसल उसमें लड़ाई का तमाम नक़शा और इन तमाम कामों की रिपोर्ट थी। यह रेशम पर कढ़ा हुआ खत अब्दुल हक़ नाम के एक विद्यार्थी को सौंपा गया कि वह उसे शेख अब्दुरहीम तक पहुँचा दे। इसके बाद शेख अब्दुरहीम उसे मौलाना महमूदुल हसन साहब के पास तक पहुँचवा देते। लेकिन अब्दुल हक़ ने हिंदुस्तान में आते ही यह खत खान बहादुर हक़नवाज़ खाँ को दे दिया और खाँ साहब ने उसे सर माइकेल ओडायर तक पहुँचा दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि अंग्रेज़ों को यह तमाम भेद मालूम हो गया। मौलाना महमूदुल हसन साहब मक़े में फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिये गये। शेख अब्दुरहीम के नाम भी वारंट निकला, लेकिन वह फरार हो गये। अंग्रेज़ों ने काबुल के अमीर हबीबुल्ला खाँ पर यह जोर डाला कि वह मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी और उनके साथियों को अंग्रेज़ों के हवाले कर दें। अमीर हबीबुल्ला इस वक्त अंग्रेज़ों के हाथ की कठपुतली बने हुये थे। इसलिए वह इन तमाम लोगों को अंग्रेज़ों के हाथों में देने को भी तैयार थे। लेकिन अमीर के छोटे भाई नसरुल्ला खाँ और अमीर के लड़के अमानुल्ला खाँ वगैरह अंग्रेज़ों के खिलाफ़ थे। इन लोगों ने अमीर को ऐसा तो न करने दिया, फिर भी मौलाना को

गिरफ्तार करके काबुल की जेल में तो डाल ही दिया गया। मौलाना ने जेल से भी अपने काम को जारी रखा और वह अफ़ग़ानिस्तान की उस पार्टी को बराबर मदद करते रहे, जो अंग्रेज़ों के खिलाफ़ थी।

कुछ दिन बाद 16 फ़रवरी सन् 1916 को अमीर हबीबुल्ला खां अंग्रेज़ों से मिले रहने की अपनी पॉलिसी के कारण क़त्ल कर दिये गए और अमानुल्ला खाँ काबुल की गद्दी पर बैठे। अमानुल्ला खाँ ने सबसे पहला काम यह किया कि उबेदुल्ला साहब और उनके साथियों को जेल से छोड़ दिया और मौलाना से अपने राजकाजी मामलों में भी सलाह लेने लगे।

इस वक्त तक यूरोप की बड़ी लड़ाई खत्म हो चुकी थी, जिसमें हालाँकि अंग्रेज़ जीत गये थे, लेकिन उनकी तमाम ताक़त खर्च हो चुकी थी। इधर हिंदुस्तान में रौलट बिल के खिलाफ़ सत्याग्रह चालू था आर पंजाब में तो सिर्फ़ मार्शल ला के बल पर हुकूमत चलाई जा रही थी। मौलाना उबेदुल्ला साहब ने महसूस किया कि अगर इस वक्त काबुल हिंदुस्तान पर चढ़ाई कर दे तो काबुल और हिंदुस्तान दोनों ही अंग्रेज़ों के पंजों से छूट सकते हैं। उन्होंने बादशाह अमानुल्ला खाँ साहब के सामने अपना यह ख़याल रखा। इसका यह नतीजा हुआ कि 9 मई सन् 1916 को यकायक अफ़ग़ानिस्तान ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ लड़ाई का एलान कर दिया। इस एलान के होते ही सरहद के आज़ाद क़बीले भी मौलाना उबेदुल्ला साहब के एक दूसरे साथी तुरंगज़ई के हाजी साहब की रहनुमाई में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ खड़े हो गये। यह लड़ाई 24 जुलाई तक चली। इसके बाद अंग्रेज़ों को अफ़ग़ानिस्तान से सुलह करनी पड़ी, जिसके मुताबिक़ अफ़ग़ानिस्तान की मुकम्मल आज़ादी मंज़ूर की गई और उसे दूसरे-दूसरे मुल्कों से बिना अंग्रेज़ों की इजाजत लिये अपने सम्बन्ध कायम करने का इख़्तियार दिया गया। इसके बदले में अंग्रेज़ सरकार की तरफ़ से यह शर्त रखी गई कि काबुल की सरकार मौलाना उबेदुल्ला को कोई सियासी काम काबुल में नहीं करने देगी। इस शर्त का नतीजा यह हुआ कि मौलाना उबेदुल्ला साहब ने काबुल हमेशा के लिए छोड़ दिया। काबुल की सरकार मौलाना की तमाम ज़रूरतों को पूरा करने के लिये तैयार थी, लेकिन मौलाना उबेदुल्ला साहब के दिल में तो हिंदुस्तान की आज़ादी की चाह थी। इसलिए वह इस शर्त को मंज़ूर ही कैसे कर सकते थे। वह इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि काबुल छोड़ते ही उनको सख्त तकलीफ़ें, खासकर रुपये पैसे की, भारी तंगी उठानी पड़ेगी। लेकिन उन्होंने कुछ दिन बाद ही काबुल छोड़ दिया। इसी बीच

उन्होंने एक खास काम यह भी किया था कि काबुल में कांग्रेस की एक शाख कायम कर दी जिसको आल इंडिया कांग्रेस कमेटी ने अपने गया सेशन में मंजूर भी कर लिया। कांग्रेस की यह पहली शाख थी जो हिंदुस्तान से बाहर किसी दूसरे मुल्क में कायम हुई थी।

काबूल छोड़ने के बाद मौलाना उबेदुल्ला रूस पहुँचे और क्ररीब सात महीने तक मास्को में रहकर कम्यूनिज्म के उसूलों को पढ़ते और समझते रहे। लेकिन वह कम्युनिस्ट पार्टी में शरीक न हो सके। क्योंकि खुदापरस्ती और दूसरी मज़हबी बातों के लिए इस कम्यूनिज्म में कोई गुंजायश उनको न दिखलाई दी। इसके बाद वह तुर्की पहुँचे और वहाँ क्ररीब तीन साल तक रहे। यहाँ उन्होंने 'पैन इस्लामिक' तहरीक पर काफ़ी गौर किया। लेकिन उसमें कामयाबी की कोई उम्मीद दिखाई नहीं दी। आख़िर वह इस नतीजे पर पहुँचे कि इन्डियन नेशनल कांग्रेस में ही इस्लाम की मज़हबी तहरीक को भी शरीक कर दिया जाय। इस पर उन्होंने एक किताब लिखी जो तुर्की में ही छपी। इसी जमाने में लाला लाजपतराय और डॉक्टर अन्सारी साहब भी घूमते-घामते तुर्की पहुँचे। मौलाना उबेदुल्ला साहब हिंदुस्तान के इन दोनों नेताओं से मिले। इसके कुछ दिन बाद ही इटली जाकर वह पं. जवाहरलाल जी से भी मिले और उनसे भी अपने इस प्रोग्राम पर बातचीत की। इस प्रोग्राम की खास बात यह थी कि उसमें अहिंसा पर बहुत जोर दिया गया था। जवाहरलाल जी ने अपनी मशहूर किताब 'मेरी कहानी' में मौलाना के इस प्रोग्राम को "हिंदू मुसलमानों के सवाल को हल करने की एक काफ़ी अच्छी कोशिश" बताया है।

इसके बाद मौलाना कुछ दिनों तक इसी तरह एक मुल्क से दूसरे मुल्क में घूमते रहे। न पास में पैसा, न कोई साथी और न कोई हमदर्द। ब्रिटिश हुकूमत के खुफ़िया हर वक्त मौलाना के साथ लगे रहते थे और परेशान करते रहते थे। पर इन तकलीफ़ों के बावजूद मौलाना अपनी धुन में लगे रहते थे।

कुछ दिन बाद मौलाना को मालूम हुआ कि मक्का में एक खिलाफ़त कान्फ़्रेंस होने वाली है जिसमें हिंदुस्तान के नुमाइन्दे भी हिस्सा लेंगे। मौलाना ने इस मौके पर मक्का पहुँचना जरूरी समझा और वह इटली के रास्ते मक्के के लिये चल पड़े। वह जब मक्का पहुँचे, तब तक कान्फ़्रेंस खत्म हो चुकी थी और हिंदुस्तान के नुमाइन्दे भी वहाँ से चल दिये थे। इसके बाद मौलाना ने मक्का में ही रहना तय किया और यहीं पढ़ना-पढ़ाना शुरू कर दिया।

सन् 1936 में कांग्रेस ने मौलाना को हिंदुस्तान आने की इजाजत देने के लिये आवाज उठाई। कुछ दिन बाद सिन्ध में खान बहादुर अल्लाबख्श की सरकार बनी और कांग्रेस को अपनी इस तहरीक में कामयाबी हुई। 1 नवम्बर सन् 1937 को ब्रिटिश हुकूमत से मौलाना को यह इत्तला मिली कि वह हिंदुस्तान आ सकते हैं। 1 जनवरी सन् 38 को मौलाना ने पासपोर्ट भी हासिल कर लिया और वह हज करके करीब 22 साल बाद अपनी प्यारी जन्मभूमि की गोद में वापस आ गए। यहाँ आकर पहले वह अपने तमाम पुराने साथियों से मिले और उसके बाद दिल्ली में रह कर शाह वलीउल्लाह के उसूलों का प्रचार करना उन्होंने शुरू कर दिया, जो वह अपनी आखिरी साँस तक करते रहे। जिलावतनी की तकलीफें और परेशानियाँ उनकी देशभक्ति के जजबे को कम नहीं कर सकी थीं।

मौलाना का इन्तकाल 21 अगस्त 1944 को दीनपुर (बहावलपुर) में हुआ। अपने आखिरी वक्त तक वह हिंदू-मुस्लिम एकता के जबरदस्त हामी रहे। वह अक्सर कहा करते थे कि सबसे बड़ी खुदापरस्ती यही है कि हम सभी इनसानों से, फिर चाहे वह किसी भी क़ौम या मजहब के हों, सच्चे दिल से मुहब्बत करें। अपने एक मजमून में उन्होंने अपने इस खयाल को जाहिर करते हुये लिखा था :

“ईमान या खुदापरस्ती की एक मंजिल इन्सानियत दोस्ती भी है। अगर आदमी यह मानता है कि सारे इनसान उसी के पैदा किये हुये हैं और उसको खालिक से हक़ीक़ी मुहब्बत है, तो लाजमी है कि उसे उसकी मखलूक<sup>1</sup> से भी मुहब्बत हो और अगर उसे उसकी मखलूक से मुहब्बत नहीं, तो यह समझिये कि वह खुदा की मुहब्बत के दावे में सच्चा नहीं। हमारे सूफ़ियायकराम ने तो खुदापरस्ती को अमली शक़ल में इन्सानियत दोस्ती को ही असली दीन करार दिया था। उनका तो यह अकीदा<sup>2</sup> हो गया था कि जिसे सिर्फ़ अपने गिरोह और जमात से मुहब्बत है और जो दूसरों को, जो हमअक़ीदा<sup>3</sup> नहीं हैं, नफ़रत की निगाह से देखता है, वह सच्चा मुवाहिद और खुदापरस्त ही नहीं है।”

काश! आज का हिंदुस्तान अपने इस देशभक्त शहीद के इन सोने के हफ़्तों में लिखे जाने लायक़ लफ़्ज़ों का असली मर्म समझ सके और उन पर अमल कर सके।

1.— ईश्वर की जीव रचना, 2.— विश्वास, 3.— सह-विश्वास

---

## ***isd* इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com

वेबसाइट : [www.isd.net.in](http://www.isd.net.in)

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017